Chapter-2

==

अध्यायः 2 :: हिन्दी के स्वातंत्र्योत्तर ग्रामभित्तीय उपन्यास

==

:: अध्याय-2 ::

:: हिन्दी के स्वातंत्र्योत्तर ग्रामभित्तीय उपन्यास ::

प्रस्तुत अध्याय में उन ग्रामभित्तीय स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों को सविशेष रेखांकित किया गया है, जिनका उपयोग आगे मानव-जीवन की नाना समस्याओं को विश्लेषित करने में हुआ है। इनमें अधिकांशतः ग्रामीण परिवेश के उपन्यास हैं, तथापि कतिपय ऐसे उपन्यास भी आयेंगे जिनमें नगरीय परिवेश का भी थोड़ा-बहुत समावेश हो गया है, क्योंकि वर्तमान समय में गांव शहर से असंपृक्त नहीं रह पाए हैं। स्वाधीनता-पूर्व के उपन्यासों में जहां अत्याचार, अन्याय, शोषण, रूढ़िवादिता जैसी सामाजिक-राजनीतिक विरूपताएं मिलती थीं; वहां एक प्रच्छन्न ही सही, आश्वासन था कि स्वतंत्रता के पश्चात् स्थितियों में बदलाव आयेगा। अपना राज होगा। सबका राज होगा। परन्तु अब यह बात एक छलावा सिद्ध हुई है। एक भ्रमणा-मात्र। अब यह प्रतीत होने लगा है कि आर्थिक-सामाजिक समानता के अभाव में कैसी भी धार्मिक या राजनीतिक स्वतंत्रता अर्थहीन हो जाती है। मिसाल के तौर पर देखा जाय तो भारत के पिछड़ों को, दलितों को कानूनन यह हक हासिल है कि वे मंदिर में जा सकते हैं, सार्वजनिक कुंओं से पानी भर सकते हैं; परन्तु वे अपने इस हक या अधिकार का कितना प्रयेग प्रयोग करते हैं या कर पाते हैं यह तथ्य भारतीय ग्रामीण-समाज से अभिज्ञ लोगों से छिपा नहीं है। महात्मा गांधी और डा० बाबासाहब आंबेड़कर इसलिए पूर्ण स्वतंत्रता पर जोर देते थे। पूर्ण स्वतंत्रता से अभिप्राय आर्थिक-सामाजिक-सांस्कृतिक-धार्मिक समानता से पोषित मानव-चेतना से है। उक्त समानताओं के अभाव में केवल राजनीतिक या कानूनी स्वतंत्रता बिना दूल्हे की बारात-मात्र है।

अतः शोषण बन्द नहीं हुआ। अत्याचार, अनाचार, अन्याय जारी है। कहीं-कहीं उसके स्वरूप में बदलाव जरूर आया है, परन्तु इसे तो प्रेमचन्द बहुत पहले "गोदान" में रायसाहब के सन्दर्भ में संकेतित कर गए थे। स्वतंत्रता के पूर्व हमारे नेताओं ने जो-जो कहा था, उसका वैपरित्य ही

सामने आ रहा है । यहां एक प्रसंग के उल्लेख का मोह-संवरण नहीं कर पा रहा हूं । हमारे एक सम्बन्धी ने अपने गृह-संचालन की सुचारुता §9§ के लिए एक व्यावहारिक तरीका इजाद किया है । उन्होंने अपने घर के सभी सदस्यों को समझा रखा है कि यदि वे किसी बात या वाक्य के अंत में धीरे से "उ" कह देते हैं, तो उसका अर्थ होगा, जो कहा गया है उससे विपरीत करो । अर्थात् यदि वे कहते हैं कि भई बढ़िया-सी चाय बना लाओउ, तो अर्थ होगा साधारण-सी चाय बनानी है । शायद आज़ादी के पूर्व हमारे नेताओं ने जो अभिभाषण दिए थे, वहां भी वाक्यांत का यह "उ" अवश्य रहा होगा ।

हमारी सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक अप्रामाणिकता ने आज देश में घोर मूल्यहीनता, अनैतिकता तथा अनादर्शवादिता को जन्म दिया है । आदर्श और भावना की बात करने वाला अब निहायत मूर्ख समझा जा रहा है । आजादी की भोर में ही कौआ-रार मच गई है । कौवे और दादुर बोल रहे हैं । कोयल और मयूर की आवश्यकता पर ही प्रश्नचिह्न लगा हुआ है । मूल्यों की इस घोर अराजकता से हिन्दी उपन्यास गुजर रहा है, अतः कहीं-कहीं उसके तेवर तीखे और व्यंग्यात्मक हो रहे हैं । यहां पर ऐसे कुछ उपन्यासों की चर्चा का उपक्रम है ।

<u>रतिनाथ की चाची</u> :

हिन्दी उपन्यास-साहित्य में प्रेमचन्द की परंपरा को विकास देने वालों में नागार्जुन का स्थान अग्रिम पंक्ति में आता है । भारतीय ग्रामीण जीवन की यथार्थ, गहन व अभिज्ञतापूर्ण अभिव्यक्ति उनके उपन्यासों की विशेषता है । " नागार्जुन ने एक ओर मार्क्सवादी सिद्धान्तों को आत्मसात किया हुआ है और दूसरी ओर देहाती जीवन का उनको गहरा व्यक्तिगत अनुभव है तथा उससे उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है । " [1]

यह नागार्जुन का प्रथम उपन्यास है । इनके प्रायः सभी उपन्यासों की कथा-भूमि मिथिला है । प्रस्तुत उपन्यास में रतिनाथ की चाची - गौरी एक विधवा ब्राह्मणी है । डा० रामदरश मिश्र के शब्दों में इस उपन्यास में "ग्रामीण जीवन की सामाजिक विषमता, संकीर्ण विश्वासमयता, स्वार्थ-

परता और जहालत के बीच गौरी की यातना और दुखद अंत का सजीव चित्रण है । " 2

जैसे कि ऊपर कहा गया रतिनाथ की चाची गौरी एक विधवा ब्राह्मणी है । हिन्दू समाज में उच्च वर्ग में विधवा की स्थिति को लेकर कई उपन्यास लिखे गए हैं । प्रेमचन्द की निर्मला तथा जैनेन्द्र की कट्टो भी विधवाएं हैं, परन्तु निर्मला में विधवापन की स्थिति अंत में आती है और कट्टो तो इतनी अबोध है कि उसे वैधव्य की भयंकरता का कोई अन्दाज़ ही नहीं है । इन दोनों की तुलना में गौरी का वैधव्य पाठकों को इसलिए झकझोर जाता है कि उसमें मैथिल ब्राह्मण समाज की विधवा की विवशतापूर्ण करुणता व्यंजित है जिसमें परिवार के किसी अन्य सदस्य ××× के पाप का फल निर्दोष स्त्री को आजीवन भोगना पड़ता है । एक घनी अंधेरी रात में गौरी का देवर जयनाथ , रतिनाथ का पिता , जो एक विधुर है , गौरी पर बलात्कार करके चला जाता है । उससे गौरी को गर्भ रहता है । सामाजिक भय से त्रस्त गौरी मां के यहां जाकर गर्भ तो गिरा देती है , परन्तु सामाजिक लांछनाओं से बच नहीं सकती । उसकी शेष जिन्दगी उसकी प्रताड़णा में ही × बितती है । बेटा उमानाथ और बेटी प्रतिभा उसे हमेशा घृणा की ××××× नज़र से देखते हैं। गौरी को स्नेह केवल रतिनाथ से प्राप्त होता है । उमानाथ तो अपनी मां को मरने के बाद भी क्षमा नहीं करता । उसका अंतिम संस्कार भी रतिनाथ ही करता है । श्मशान से लौटते समय रतिनाथ को एक प्रश्न बारबार कचोटता है । " अस्थि गंगा में प्रवाहित करके लौटते समय रतिनाथ के हृदय में बारम्बार यही बात उठ रही थी कि अमावस की उस रात को वह कौन था चाची ? एक घनी अंधेरी छाया तुम्हारे बिस्तरे की तरफ बढ़ आई , वह क्या था चाची ? शील और शालीनता की प्रतिमूर्ति तुमने क्यों उस धूर्त का नाम नहीं बतला दिया ?"*××[3]

गौरी का गर्भ गिराने के लिए जो चमाइन आती है , उसकी बात भी हमारे तथाकथित उच्चवर्ग की उच्चता पर अंगुश्तनुमाई करती है— " भला यह भी क्या कहने की बात है मलकाइन ? आपकी बदनामी क्या हमारी बदनामी नहीं है ? पर एक बात कहती हूं , माफ करना , बड़ी जातवालों की तुम्हारी यह बिरादरी बड़ी म्लेच्छ , बड़ी निष्ठुर होती

है मलिकाइन ... " [4]

इस प्रकार लेखक ने वास्तविक जीवन की कुछ घटनाओं को अपने निजी अनुभवों की खराद पर चढ़ाकर रचना को अधिक नुकीला बना दिया है । डा० सुषमा धवन के शब्दों में " रतिनाथ के चरित्र में उपन्यासकार के निजी जीवन के कुछ तथ्यों का समावेश हो गया है । रति के पिता की अकिंचनता , अल्पायु में उसके माँ के स्नेहसिक्त आँचल की सुखद छाया से वंचित हो जाना , धनाभाव के कारण संस्कृत का अध्ययन , परान्नभोजी छात्र-जीवन , काशी तथा कलकत्ता की राजकीय संस्थाओं से स्नातक होना आदि घटनाएं लेखक के निजी अनुभवों पर आश्रित हैं । " [5]

<u>बलचनमा:</u>

बलचनमा नागार्जुन का एक बहुचर्चित उपन्यास है । आत्मकथनात्मक शैली में लिखे इस उपन्यास का "बलचनमा" हिन्दी के औपन्यासिक चरित्रों में अपनी एक अमिट छाप छोड़ जाता है और आज भी उतना ही प्रासंगिक है , जब वह कहता है — " सच जानो भैया , उस बखत मेरे मन में यह बात बैठ गयी कि जैसे अंग्रेज बहादुर से सोराज लेने के लिए बाबू भैया लोग एक हो रहे हैं , हल्ला-गुल्ला और झगड़ा-झंझट मचा रहे हैं , उसी तरह जन-बनिहार , कुली -मजूर और बहिया-खबास लोगों को अपने हक के लिए बाबू भैया से लड़ना पड़ेगा । " [6] ध्यान रहे यह बात बलचनमा 1952 में कर रहा था । ऐसा प्रतीत होता है कि मानो प्रेमचन्द के बलराम और चेतू ही "बलचनमा" के रूप में अवतरित हुए हैं ।

इस उपन्यास में जमींदारी-शोषण और खेतिहर मजदूरों की दयनीय पशुवत अवस्था का यथार्थवादी चित्रण मिलता है । बलचनमा का पिता ललुआ एक बंधुआ मजदूर है । मेघदूत का कुबेर तो सेवक की चूक पर यक्ष को कुछ वर्षों का देश-निकाला ही देता है , यहाँ तो जमींदार ललुआ को मार-मारकर परलोक ही भेज देता है । अनाथ बलचनमा को भी जमींदार के यहाँ नौकर रहना पड़ता है और उसके अनेक अत्याचारों को सहना पड़ता है । धर्म के नाम पर जमींदार उसकी माँ से जमीन अपने नाम लिखवा लेता है , इतना ही नहीं उसकी बहन रेवैनी को प्राप्त करने की कुचेष्टा भी करता है , तब बलचनमा भागकर क्रांतिकारी बन जाता है —

" बेशक मैं गरीब हूं । तेरे पास अपार सम्पदा है , कुल है , खानदान है , बाप-दादे का नाम है , अड़ोस-पड़ोस की पहचान है , जिला ज्वार में मान है और मेरे पास कुछ नहीं है ; मगर आखिरी दम तक मैं तेरे खिलाफ डटा रहूंगा । अपनी सारी ताकत मैं तेरे विरोध में लगा दूंगा । मां और बहिन को जहर दे दूंगा लेकिन उन्हें तू अपनी रखैली बनाने का सपना कभी पूरा न कर सकेगा । " [7]

बलचनमा किसान-मजदूरों का नेतृत्व करता है । जमींदार बौखलाकर अपने पालतू कुत्तों से उसकी हत्या करवा देते हैं । " बलचनमा की भी वही हालत होती है जो ललुआ की हुई थी , पर दोनों की नियति में अन्तर है । ललुआ चोर बनकर पिटता है और मालिक शाह बनकर पिटवाता है । बलचनमा शाह बनकर पिटता है और मालिक चोर बनकर पिटवाता है । अब मालिक की यह हिम्मत न थी कि कि सार्वजनिक रूप से बलचनमा को एक गाली भी दे सके । यह शक्ति बलचनमा को जन-~~सम्मेलन~~ संगठन ने दी । " [8]

<u>उग्रतारा</u> :

डा० प्रकाशचन्द्र गुप्त नागार्जुन के सम्बन्ध में लिखते हैं — " " नागार्जुन की प्रेरणा शिल्प के कौशल से नहीं , जीवन-अनुभवों की गहराई और तिक्तता से शक्ति पाती रही है । नागार्जुन जन-मन के साथ गहरी आत्मीयता और तादात्म्य स्थापित करते हैं , उनकी साहित्यिक शक्ति का यही आधार है । " [9] और उनकी इस अनुभव-संपृक्तता से उगनी (उग्रतारा) जैसे पात्रों की सृष्टि होती है ।

पुराने रूढ़िवादी परंपरागत जीवन-मूल्यों के तहत भारतीय विधवा नारी का भयंकर नैतिक शोषण होता था । घर-परिवार तथा गांव के प्रौढ़-विधुर उनका मनचाहा उपयोग करते थे, और कभी उनकी करतूतों से वह कभी मुसीबत में फंस जाए तो उसे उसके हाल पर छोड़ दिया जाता था । प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने शोषण के इस कोण को अपनी विशिष्ट दृष्टि से समेकित किया है ।

उगनी मढ़िया-सुन्दरपुर की एक युवा विधवा है । उसकी मां और दादी भी युवावस्था में विधवा हुई थीं । " उगनी नयी विधवा

थी , उसकी मां पुरानी विधवा थी । कहते हैं दादी भी विधवा थी । कैसे वैधव्य का इतना लम्बा अभिशाप उसके खानदान पर पड़ा था , यह रहस्य और आश्चर्य की बात थी ।" 10

उगनी भी अपनी मां और दादी की भांति अपने शोलों को सीने में दफनाकर जिन्दगी की गाड़ी को शायद घसीट ले जाती , परन्तु उस गांव में नयी चेतना की एक लहर आयी है — नर्मदेश्वर की भाभी के रूप में । वह गांव के नव युवक-युवतियों में मानो चेतना फूंक देती है । "साप्ताहिक हिन्दुस्तान" , "नवनीत" , "नयीधारा" , " आज" जैसी पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ते हुए इन लोगों में एक नयी दुनिया आबाद होने लगती है । उनके ही प्रयत्नों से कामेश्वर और उग्रतारा पहले प्रणय और बाद में परिणय के लिए तैयार होते हैं । परन्तु गांववालों के विरोध के कारण उन्हें भागना पड़ता है । गांव के बूढ़े भला यह कैसे बरदाश्त कर लेते । वे पुलिस की सहायता से उन्हें झूठे मुकदमे में फंसा देते हैं । कामेश्वर को जेल हो जाती है । उगनी को "लेडिज़ रिमांड-होम" में भेज दिया जाता है और फिर वहां से एक बूढ़े पुलिस के सिपाही से उसका विवाह करा दिया जाता है । बूढ़े सिपाही भभीखनसिंह से उगनी को गर्भ भी रहता है , फिर भी कामेश्वर जेल से छूटने पर उगनी को उस नरक से निकाल लाता है और उसे पत्नी के रूप में स्वीकार करता है । लेखक ने उगनी और भभीखनसिंह के विवाह का बड़ा ही व्यंग्यात्मक चित्र खींचा है — " भभीखनसिंह ने वैदिक विधियों से शादी की थी । ठीक है , आधे घण्टे तक अग्नि में आहुतियां डाली गईं थीं । ठीक है , हवन के धुएं ने बहुतों की आंखों को आनन्द के आंसुओं से गीला कर दिया था । ठीक है , तोला भर सिन्दूर मांग के बीचोबीच कई दिनों तक जमा रहा । सबकुछ ठीक है । लेकिन स्त्री-पुरुष के बीच इतना बड़ा फासला किस तरह मखौल उड़ा रहा था विवाह के संस्कारों का । बाबू भभीखनसिंह को कानूनी तौर पर बलात्कार का हक हासिल हुआ ।" 11

<u>इमरतिया</u> :

डा० शिवकुमार मिश्र ने मार्क्सवादी दर्शन को विश्लेषित करते हुए लिखा है — " मार्क्सवाद सर्वहारा वर्ग अर्थात् शोषित वर्ग का क्रांतिकारी दर्शन है , अतएव उसकी संपूर्ण एवं एक मात्र प्रतिबद्धता इस

वर्ग और उसके हितों के प्रति है ।"[12] अतः इस वर्ग के शोषण में लगे हुए प्रति-गामी तत्वों के प्रति सचेष्ट करना भी उसका एक दायित्व है । यह तो एक सुविदित तथ्य है कि धार्मिक ढकोसलों तथा अन्धविश्वासों के शस्त्रों द्वारा इस वर्ग को हमेशा पिटा गया है । "इमरतिया" धर्म की ओट में चलने वाले मठों , सम्प्रदायों तथा उनसे जुड़े न्यस्त हितों की बखिया उधेड़ने वाला एक धाकड़ उपन्यास है ।

कुछ वर्ष पूर्व एक बाबा कहीं से आता है और बिहार के सीमान्तवर्ती प्रदेश में स्थित जमनिया में कुछ दिन के लिए जम जाता है और फिर तो ऐसा जमता है कि "जमनिया महन्ती दरबार" के नाम से एक धार्मिक मठ स्थापित हो जाता है । भण्डारे होने लगते हैं । मेले लगने लगते हैं । यज्ञ-याग , विधि-विधान से वातायन गूंजने लगता है । भगौतीप्रसाद , सेठ विर्धीचन्द , ठाकुर शिवपूजनसिंह , ~~श्रखमम~~ रामजनम , सुखदेव जैसे लोग जमनिया मठ से जुड़ने लगते हैं । मठकी "सिद्धई " और साथ-साथ इनसे जुड़े लोगों की संपन्नता में दिन-दूनी रात-चौगुनी वृद्धि होने लगती है । मठ में तरह-तरह के करतब चलते हैं । उनमें से एक है — निपूती स्त्रियोंकी कोख को फलवती करने का करतब । चारों तरफ प्रचारित होता है कि जमनिया मठ में "बाबा" के सोटी छूवाने से निःसंतान स्त्रियों को संतान-प्राप्ति होती है । बाबा का चेला तो मात्र "चमत्कारी सोटी" छुवाता था । अगला मोर्चा तो भगौती , लालता , ~~श्रखमम~~ रामजनम , सुखदेव जैसे फतह बहादुर सम्भालते थे । " यही लोग ठूंठ की कोख से ~~बेबx~~पौधा पैदा करने की विद्या जानते थे । पत्थर पर दूब जमाने की ~~हिकलम~~ हिकमत इन्हीं लोगों को मालूम थी । "[13]

आश्रम {मठ} में गौरी , लक्ष्मी , माई इमरतीदास जैसी सधुआइनों को भी रखा जाता है ; जिनके द्वारा प्रशासकों , पुलिस-अधि-कारियों तथा राजनेताओं को खुश रखा जाता है । यहां लेखक शासन-व्यव-स्था में व्याप्त भ्रष्टाचार को भी रेखांकित करते हैं । जेल के भीतर भी भांग , चरस , गांजा और अफीम का बाजार गरम है । मठ की "सिद्धई" बढ़ाने के लिए लक्ष्मी के बच्चे की बलि दी जाती है , और इस बात को लेकर किसी की शिकायत पर भरतपुरा के थानें में रिपोर्ट होती है तब मामला

कैसे रफे-दफे किया जाता है, उसका व्यंग्यात्मक चित्र लेखक इस प्रकार खींचते हैं :- " भरतपुरा की पुलिस के रेकोर्ड में दर्ज हुआ होगा — पूजा की आठवीं रात में जाने किधर से एक पगली आई । उसकी गोद में छः महीने का बच्चा था । पुजारी की नजर बचाकर उसने बच्चे को हवन-कुण्ड में डाल दिया । सरकार बहादुर से अर्ज है कि वह जमनिया मठ के संत शिरोमणि बाबाजी महाराज की प्रतिष्ठा और इज्जत को ध्यान में रखें । " [14] क्योंकि इसके पूर्व गौरी को चार दिन के लिए थानेदार के पास भेज दिया गया था ।

गंगामैया :

भैरवप्रसाद गुप्त भी प्रगतिवादी-मार्क्सवादी लेखक हैं । प्रस्तुत उपन्यास में उन्होंने सन् 1948 से 1951 तक की सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था की संक्रमणकालीन स्थिति का चित्रण किया है । यह वही समय है जब उत्तरप्रदेश, बिहार और बंगाल आदि राज्यों में किसान और जमींदारों के बीच संघर्ष चल रहा था । उस समय कई जमींदार किसानों और कच्चे पट्टेदारों को बेदखल करके अपनी जोत जोड़ रहे थे, तो दूसरी तरफ परती जमीन के पट्टे किसानों के नाम लिखकर उनसे बड़ी-बड़ी रकमें ऐंठने के प्रयास भी हो रहे थे । यहां "मटरू" एक किसान-योद्धा बनकर उनके नापाक इरादों को सफल नहीं होने देता ।

गंगा की कछार परती भूमि पर किसान मेहनत-मजदूरी करके मियादी फसल उगाते हैं । लहलहाती फसलें देखकर जमींदारों के मुंह में पानी आ जाता है, अतः वे मोटी-मोटी रकमें ऐंठकर किसानों के नाम उन-उन जमीन के टुकड़ों के पट्टे लिखवाने की बात चलाते हैं । परन्तु मटरू एक चेतना-संपन्न किसान है । वह उन श्रमजीवी किसानों का संगठन करता है । उन्हें वर्गीय-चेतना से परिचित करता है । वह उन किसानों को समझाते हुए कहता है — " तुम लोग अपनी रकम वापस मांग लो । साफ कह दो कि हमें जमीन नहीं लेनी । यही होगा न कि एक फसल न बो पाओगे ... अगर एक बार जमींदारों को तुमने चस्का लगा दिया तो तुम्हीं नहीं, तुम्हारे बाल-बच्चे भी हमेशा के लिए उनके शिकंजे में फंस जायेंगे । " [15]

जमींदारों के कारिन्दे मटरू को तरह-तरह से परेशान करते हैं, पर मटरू टस से मस नहीं होता । अतः उसे एक झूठे मुकदमें मुकदमे में फंसाकर

वे लोग तीन साल की जेल करा देते हैं , किसानों को बरगलाने की हरचन्द कोशिश होती है पर किसान अपने नेता से विश्वासघात नहीं करते । वे कहते हैं — " बाहर का आदमी हमारी आँखों के सामने हमारी फसल हमारी गंगामैया की धरती से काट ले जाय । डूब मरने की जगह है ।"16

जेल में मटरू की भेंट गोपी नामक एक किसान से होती है । उसके माता-पिता बूढ़े हैं , पत्नी मर चुकी है और घर में एक विधवा भाभी है । गोपी भी जमींदार-अत्याचारों का शिकार है । मटरू गोपी में नये विचारों का संचार करता है और अंत में सबके विरोध के बावजूद गोपी का विवाह उसकी विधवा भाभी से करा देता है । इस प्रकार यहाँ कथा-नायक सामंतवादी-रूढ़िवादी तत्वों से लोहा लेता है और अपने मिशन में कामयाब रहता है । इस सम्बन्ध में डा० रामदरश मिश्र लिखते हैं — " यह सच है कि किसानों में बब××ब× चेतना जगी है । वे अदम्य साहस के साथ जमींदारों के अत्याचारों तथा कुरीतियों का सामना कर रहे हैं किन्तु आवश्यक नहीं कि वे विजयी भी होते हों , अभी भी देश का चित्र बहुत धूमिल है और अभी भी किसान पुराने रीति-रिवाजों से बहुत आक्रान्त हैं । किन्तु यह सच है कि सम्भावनाओं को पकड़ने में लेखक से चूक नहीं हुई है । समाज को यहीं पहुंचना है । 53 से न सही , कभी और सही । ये किसान गंगा मां के पुत्र हैं , धरती मां के पुत्र हैं , गंगा और धरती की शक्ति ही इनकी शक्ति है । "17

<u>सत्ती मैया का चौरा :</u>

यहां जाति और संप्रदाय की विसंगतियों और अमानवीय नग्नताओं को उदघाटित किया है । प्रस्तुत उपन्यास में आदर्श परिणतियों के स्थान पर यथार्थ को उसके मूल रूप में पकड़ने की चेष्टा मिलती है । मुन्नी और मन्ने के बीच एक संवेदना का पुल बांधने का प्रयास लेखक करता है , पर संकीर्ण साम्प्रदायिकता और प्रगतिविरोधी रूढ़ विश्वासों के हाथों उसका गला घोंट दिया जाता है । मुन्नी हिन्दू है , मन्ने मुसलमान । दोनों की अभिन्न मित्रता का आधार कोई स्वार्थ नहीं , अपितु मानवीय संवेदना है । दोनों एक-दूसरे का झूठा भी खाते हैं । भला रूढ़िवादी हिन्दू यह कब बरदाश्त करने वाले थे । इस बात के लिए मुन्नी बहुत मार खाता

है । गांव के मास्टर को इसलिए धमकाया जाता है कि छमाही परीक्षा में मन्ने प्रथम आता है । एक हिन्दू-बहुल गांव के रूढ़िवादी लोग भला यह कैसे बरदाश्त कर लेते कि एक मुसलमान लड़का परीक्षा में प्रथम आवे । मास्टर को डराया-धमकाया जाता है , जिसके परिणामस्वरूप मन्ने फिर कभी प्रथम नहीं आता है ।

इस जातिवादी-साम्प्रदायिक माहौल के साथ-साथ लेखक ने ग्रामीण चेतना का एक मानक चित्र भी उपस्थित किया है । अवसरवादी राजनीति के हथकंडों को भी व्यावर्तिक किया है । सहकारी समितियों , योजनाओं श्र एवं सरकारी विभागों से मिलने वाली सुविधाओं को नेता लोग अपने अमचों-चमचों में बांटकर अपनी "वोट-बेन्क" को निश्चित कर लेते हैं । मन्ने एक स्थान पर कहता है — " कांग्रेस सरकार चीख-चीखकर राष्ट्र-निर्माण में भाग लेने के लिए लोगों को पुकार रही है और ये कांग्रेसी राष्ट्र-निर्माण के हर काम में अडंगा लगाते हैं । "[18] क्योंकि उनके अपने न्यस्त हित होते हैं ।

आज़ादी के बाद भी ग्रामीण गरीब जनता का कोई लाभ नहीं हुआ है । किसने भोगा आज़ादी को ? किसने जाना आज़ादी को ? मन्ने कहता है — " आज़ादी के बाद जो उम्मीद वे बांधे हुए थे , उनमें क्या एक भीपूरी हुई है ? तुम किसी भी किसान या मजदूर को ले लो , उसके घर को जाकर देखो , उसके तन के कपड़े देखो , उससे पूछकर समझो कि उसमें क्या परिवर्तन आया है ? जमींदार न रहे तो अब स्थानीय कांग्रेसी नेताओं ने उनकी जगह ले ली है । और किसानों पर वे उन्हीं की तरह हुकूमत करते हैं । "[19]

<u>मैला आंचल</u> :

फणीश्वरनाथ रेणु कृत "मैला आंचल" हिन्दी उपन्यास-साहित्य की एक उपलब्धि है । रेणु की यह प्रथम रचना है । पर प्रथम होते हुए भी रेणु की , और हिन्दी औपन्यासिक कृतियों में भी , एक श्रेष्ठ रचना है । वस्तुतः हिन्दी में आंचलिक उपन्यासों का सूत्रपात ही इस कृति से माना जाता है । रेणु से पूर्व भी अनेक उपन्यासों में आंचलिक वा जानपदीय जीवन को लिया गया है , परन्तु "मैला आंचल " को आंचलिक इस अर्थ में कहा

गया कि वह केवल आंचल और आंचल मात्र की कथा होते हुए भी अपने समय की संपूर्ण अभिज्ञता को , संश्लिष्टता को ,सामाजिक-ग्रामीण-राजनीतिक जीवन की संगुम्फितता को एक साथ चित्रित करने में सक्षम है । उसके केन्द्र में है मेरी गंज , और मात्र मेरी गंज । उसका पिछड़ापन , उसके लोग , उनके विश्वास , अविश्वास , गीत , नाच , खेत , खलिहान , नदी-निर्झर , पोखर , नाले , विविध टोलियां , उनकी विशिष्टताएं ये सब इसमें एक क्षिप्र गति से दौड़ते हुए से प्रतीत होते हैं । कोई भी चरित्र अधिक समय तक ठहरता नहीं है ।

बिहार के पूर्णिया जिले के मेरीगंज गांव में मेलेरिया सेण्टर खुलने की बात से मानो पोखर के शांत जल में एक कंकड़ गिरता है और जल में एक वृत्त बन जाता है । फिर तो वृत्त पर वृत्त बनते चले जाते हैं । डा० प्रशान्त , कमली , तहसीलदार साहब , बालदेव , लछमी , जोतिखी-काका , रामखेलावन , महंत सेवादास , कालीचरन , नागा बाबा , राम-किरपालसिंह आदि पात्र चलचित्र के चित्रों की भांति हमारे दृष्टिपटल उभरते चले जाते हैं । " मैला आंचल इसलिए एक विशिष्ट कृति है कि आंचलिक होते हुए भी उसमें स्वातंत्र्योत्तर भारत के ग्रामों में होने वाले परिवर्तन के सूत्रों का व्यापक धरातल पर अत्यन्त सूक्ष्मता से अंकन हुआ है । यद्यपि लेखक के अनुसार इसमें पूर्णिया जिले के एक पिछड़े हुए गांव मेरीगंज की जिन्दगी का चित्रण हुआ है और इसमें फूल भी है , शूल भी है , धूल भी है , गुलाल भी है , कीचड़ भी है , चन्दन भी । सुन्दरता है , कुरूपता भी — लेखक किसी से भी दामन बचाकर निकल नहीं पाया है । लेकिन यह मेरीगंज सिर्फ पूर्णिया का नहीं है , वह हरियाणा में भी हो सकता है , महाराष्ट्र में भी । उत्तरप्रदेश में भी हो सकता है और तमिलनाडु में भी । यह लेखक की वर्णन-शैली की सशक्तता ही है कि मेरीगंज पूरे भारत के गांवों का प्रतीक बन जाता है । जमींदारों का शोषण , आर्थिक वैषम्य , पुराने-नये मूल्यों की टकराहट , और असमानता , जमींदारी-उन्मूलन तथा भूमि की समस्या , राजनीति , धर्म तथा समाज सबके निर्माण और विध्वंस की टकराहट आदि इस उपन्यास में मेरीगंज के माध्यम से इतने विशाल चित्रफलक पर अभिव्यक्त हुए हैं कि वह एक काल-विशेष का सजीव एवं

प्रभावशाली चित्र उपस्थित करने में सफल हो जाता है ।"[20]

इस उपन्यास की शक्ति और विशिष्टता को द्योतित करते हुए डा० रामदरश मिश्र ने लिखा है -- " रामखेलावन ,बालदेव ,लछिमी , जोतिखीकाका , महंथ सेवादास , कालीचरन , तहसीलदार , रामकिरपालसिंह आदि पात्र बहुत ही मानवीय रूप में आये हैं , लेखक ने किसी के साथ अन्याय नहीं किया है । अपनी ओर से वह किसी की खिल्ली भी नहीं उड़ाता , बल्कि उसकी व्यंग्य-विधायिनी शक्ति ऐसी परिस्थितियों का संयोजन करती है कि पात्र या प्रसंग या धारणाएं , या मर्यादाएं अपनी विसंगतियों में उपहासास्पद हो उठती हैं और उपहासास्पद होकर भी अपनी अनिवार्य विवशताओं की सीमा में हमें हंसाने के साथ द्रवित भी करती हैं , अपने से विरक्त नहीं , अनुरक्त करती हैं । यही रेणु की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है और "मैला आंचल" के सौन्दर्य का एक विशिष्ट रहस्य । बालदेव हों , चाहे कालीचरन , चाहे लछिमी , चाहे रामखेलावन , चाहे रामदास , चाहे और पात्र , इसी प्रकार की परिस्थितिगत और स्वभावजन्य संघर्ष और मानवीय विवशतापूर्ण अन्तर्विरोध लेकर ~~अस्लेहैं~~ जीते हैं और इसलिए " मैला आंचल " एक ओर गांव के जीवन का बड़ा ही यथार्थ स्वरूप उद्घाटित करता है , दूसरी ओर गांव के प्रति एक अभतपूर्व ममत्व उभारता है । " [21]

मेरीगंज की आर्थिक विषमता और गांधीवादी राजनीति की असफलता चेतना के एक नये स्वर को उभारने में कारणभूत हुए हैं । कालीचरन के द्वारा गांव में सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना होती है । गांव में एक नयी चेतना करवट लेती है -- " यह जो लाल झण्डा है , आपका झण्डा है , जनता का झण्डा है , अवाम का झण्डा है , इन्कलाब का झण्डा है । इसकी लाली उगते हुए आफताब की लाली है , यह खुद आफताब है । इसकी लाली , इसका लाल रंग क्या है ? यह गरीबों , महरूमों , मजलूमों , मजदूरों , मजबूरों के खून में रंगा हुआ झण्डा है ... जमीनों पर किसानों का कब्जा होगा । चारों ओर लाल धुआं मंडरा रहा है । उठो किसानो , किसानों के सच्चे सपूतो ! धरती के सच्चे मालिको उठो । क्रांति की मशाल लेकर आगे बढ़ो । " [22]

परन्तु वस्तुतः देखा जाय तो " मैला आँचल " मोहभंग का उपन्यास है । यह मोहभंग जितना कालीचरण का है , उतना बावनदास का है , उतना ही गांधीवादी कांग्रेसी राजनीति का है । बालदेव गोप गांधीवादी विचारधारा का प्रतीक है जो सिद्धान्तों को अपनी सुविधा के अनुसार बदलता रहता है । इस व्यवस्था में बावनदास जैसे खरे लोग "चेंथरिया पीर" तो बन सकते हैं , नेता नहीं । बावनदास के अनुसार भारतमाता अब भी रो रही है । " आज़ादी आती है पर परिवर्तन होता है तो केवल इतना कि कांग्रेस-विरोधी सबसे बड़े कांग्रेसी बन जाते हैं और कांग्रेस के दफ्तर में मांस और मदिरा का सेवन बेरोकटोक होने लगता है । बावनदास की व्याकुलता एक ऐसे ईमानदार व्यक्ति का विरोध है जो अपने सहज ज्ञान के अनुसार सदैव अन्याय का विरोध करता रहता है । प्रेमचन्द के सूरदास और रेणु के बावनदास में तुलना करने का जो प्रयास किया गया है , वह तर्कसंगत नहीं है । सूरदास और बावनदास में इतना ही अन्तर है जितना 1925 और 1954 ई. के भारत में । दोनों दो विभिन्न परिस्थितियों की देन है । "23

दूसरी तरफ डा० प्रशान्त जैसे लोगों के आत्मबोध का उपन्यास भी यह है । कालाजार और मेलेरिया पर खोज करने आये डाक्टर प्रशान्त को अब यह आत्मबोध हो जाता है कि आदमी को दिल होता है जिसमें दर्द होता है । उस दर्द को मिटा दो , आदमी जानवर हो जायगा । वह वहां की जनता के दुख-दर्द से अनासक्त नहीं रह पाता , अपने को खपाकर उनकी सेवा करता है । वहां के लोगों की ज़िन्दगी के असुन्दर और क्रूर पक्ष उभरते हैं , जो उसे सालते हैं , किन्तु वह इसीलिए वहां की जमीन से और भी लिपटता है क्योंकि इस सारी असुन्दरता और क्रूरता के मूल में उसे कोई रोग दिखाई पड़ता है । वह उन कीटाणुओं की खोज करता है जो जिन्दगी की सुन्दरता को , उसके सुकुमारपक्षों को , उसके शिव और सत्य को चाट ~~xxxx~~ जाते हैं और उसका रीसर्च पूरा होता है । वह बड़ा डाक्टर हो गया है (यानी बड़ी मानवीय संवेदना से युक्त डाक्टर) । उसने रोग की जड़ पकड़ ली है । गरीबी और जहालत इस रोग के दो कीटाणु हैं । एनोफिल्स से भी ज्यादा खतरनाक , सैण्डफ्लाय से भी ज्यादा

जहरीले हैं । " डाक्टर की यह खोज स्वयं लेखक की खोज है । उस जीवन को देखने की उनकी दृष्टि अपनी दृष्टि है , पूर्ण मानवीय दृष्टि , ममतामयी यथार्थवादी दृष्टि । बड़ा ही प्रिय पात्र है डाक्टर और वैसी प्रिय कमली है किन्तु डाक्टर जैसी विशद वह नहीं है । वह भावुकतापूर्ण प्रिय लड़की है , डाक्टर की पगली मरीज और उसकी डाक्टर भी । बालदेव , कालीचरन, वासुदेव आदि पात्र एक ओर तो गांव की परिधि में उभरने वाली राजनीति के विकृत अधकचरे रूपों को उजागर करने वाले पात्र हैं , दूसरी ओर अपने निजी दुख-दर्दों से स्पंदित सजीव व्यक्तित्व भी हैं । शहरों से परिचालित होने वाली परमुखापेक्षी गांव की राजनीति किस प्रकार अविवेकपूर्ण ढंग से चलती है और किस प्रकार शहरों में बैठे हुए विभिन्न दलों के राजनीतिक नेता उनका दुरुपयोग करके अपना उल्लू सीधा करते हैं और मुसीबत के समय इन गांववालों को पूछते भी नहीं है , ये सारी बातें बहुत ही जीवन्त और संश्लिष्ट ढंग से उभरी है ।"[24]

इन सबके उपरान्त ग्रामीण-जीवन के कर्दम में उग रही अनैतिकता , पिछड़ी जातियों के लोगों की स्त्रियों का नैतिक शोषण , उनके साथ के लगातार-लगातार के अमानुषी व्यवहार के कारण उनकी चेतना का निरन्तर मरते जाना , धार्मिक मठों में धर्म की ओट में चलने और पनपने वाली पापलीलाएं प्रभृति बातों को भी लेखक ने लिया है । वस्तुतः " मैला आंचल " मिट्टी की सुगन्ध का उपन्यास है ।

<u>परती :परिकथा</u> :

"परती : परिकथा " रेणु का दूसरा उपन्यास है । उसका प्रकाशन सन् 1957 में हुआ । तब भारत में हरित क्रांति का प्रारंभ हो गया था । परती जमीन को जोतकर उसे ~~xxxxxxx~~ धान्यप्रसवा बनाने के प्रयत्न हो रहे थे । नयी कृषि-पद्धति — वैज्ञानिक पद्धति से संबंधित अनेक प्रदर्शन आयोजित किए जा रहे थे । रूढ़िवादी किसान इस नयी वैज्ञानिक-विधि को सहज रूप से नहीं ले रहे थे । सरकार की ओर से खाद , बीज और यन्त्रों को जुटाने की पैरवी भी हो रही है । नदियों पर बांध बनाए जा रहे थे । नहरों के पानी से दो-तीन फसलें लेना अब संभव हो रहा था ।

जितेन्द्र या जित्तन जो इस उपन्यास का नायक है परानपुर की परती भूमि का कायाकल्प कर देना चाहता है । जित्तन नयी रोशनी का प्रतीक है । वह रूढ़िवादिता एवं अंधविश्वासों मेंपल-सड़ रहे ग्रामीण लोगों में नयी चेतना फूंकना चाहता है । वह उन्हें स्वावलंबन और सहयोग का पाठ पढ़ाता है । वह उन्हें (स्वाता) सिखाता है कि संगठन में बड़ी ताकत होती है और संगठित होकर ही वे पुराने न्यस्त हितों वाले सामंतवादी-पूंजीवादी तत्त्वों से लड़ सकते हैं । वह एक कर्मठ व्यक्ति है और अपने गांव की , अपने xxxxx परानपुर गांव की उन्नति के लिए अथक परिश्रम करता है । परंतु गांव में सामन्तवादी-पूंजीवादी व्यवस्था के ठेकेदारों के उनके इशारों पर नाचने वाले लुत्तो जैसे लोग भी हैं जो जित्तन द्वारा लायी जा रही नयी चेतना, नयी बहार को आते ही रोक देना चाहते हैं । लुत्तो के अनुयायी जित्तन को चोर , गिरहकट , शराबी , मक्कार , जुआरी और न जाने क्या-क्या कहते हैं । अपने पक्ष की स्त्रियों का साथ लेकर उसके चरित्र-हनन का प्रयास भी होता है ।

जित्तन और ताजू के माध्यम से लेखक ने पुरानी मान्यताओं और परम्पराओं की मिथ्या धारणा को तोड़ने का प्रयास किया है । इसमें लेखक ने कुछ ऐसी पिछड़ी जाति की स्त्रियों को लिया है जिनकी चेतना-संपन्नता उनके भीतरी व्यक्तित्त्व के तेज को उजागर करती है । ऐसी स्त्रियों में ताजमनी नदि्दन और मलारी नामक हरिजन कन्या है । जमींदार का कारिन्दा मुंशी जलधारीलाल , खवास करैना का पुत्र लुत्तो , जमादार पखारनसिंह , सब प्रकार की खबर रखने वाले और "मैला आंचल" के सुमरितदास `बेतार` जैसे गरुड़धुज झा , महाजन रोसन बिस्वां , घर-घर घूमनेवाली सामबत्ती पीसी जैसे विभिन्न पात्रों के द्वारा लेखक ने ग्रामीण परिवेश का यथार्थ चित्रण किया है ।

रेणु हमारे सामने पात्रों की एक रंगारंग तस्वीर पेश कर देते हैं । जित्तन का उदार हृदय , लुत्तो तथा वीरभद्दर का बदले की भावना से संचालित चरित्र , रोशनबिस्वां तथा गरुड़धुज झा का नारदपना , जलधारीलाल का जल्लादी हास्य , भिम्मल मामा का वैचित्रयों से भरा चरित्र , कुबेरसिंह का अहंकार और प्रतिहिंसा से उत्प्रेरित चरित्र , दिलबहादुर का भोलापन,

शीवेन्द्र मिश्र का रोबीला व्यक्तित्व , रायचौधरी का स्नेही व्यक्तित्व , ताजमनी की पवित्र सुन्दरता , मलारी का विद्रोह आदि से पाठक के मनोजगत में एक नयी सृष्टि आकार लेने लगती है ।कदाचित इसीलिए रेणु की इस शक्ति की ओर संकेत करते हुए डा० गणेशन ने कहा है — " रेणु के पात्रों के सम्पर्क में आते ही हम उनके साथ जीने लगते हैं और लेखक को एकदम भूल जाते हैं । " 25

श्री विजयेन्द्र नारायण सिंह ने इस उपन्यास के सम्बन्ध में लिखा है — " उपन्यास के तत्व भी रेणु ने गांव से उठा लिए हैं । उन्हीं की लोक-कथाओं , लोक-गीतों , उन्हीं के पशुओं और पक्षियों की बोलियों और उन्हीं के पात्रों को लेकर उन्होंने अपने इस शिल्प को इजाद किया है , जो शत-प्रतिशत उनका अपना ही है । कोशी मैया और दुलारीदास की कथा, सुन्नरि नैका और दन्ता राकस की xxxx लोकथाओं के साथ भारतीय ग्रामीण जीवन की युगीन ट्रेजड़ी को उन्होंने उतनी कलात्मकता से गूंथ दिया है कि उनका शिल्प महाकाव्यात्मक हो उठा है ।" 26

<u>जुलूस</u> :

"मैला आंचल" तथा "परती:परिकथा" की तुलना में "जुलूस" रेणु का अपेक्षाकृत लघु कलेवर का उपन्यास है । इसमें लेखक ने एक अछूती घटना को लिया है । बांगला देश की मुक्ति के समय जो शरणार्थी भारत में आये थे और उनकी जो बस्तियां बस बयीं थी तथा उनके कारण यहां के ग्रामीण तबकों में जो बदलाव आए थे उन सबको उकेरना का कार्य लेखक ने इस उपन्यास में किया है ।

साथ ही ग्रामीण तबकों की राजनीति , छुटभैया नेताओं तथा शिक्षा-विभाग के अधिकारियों द्वारा हो रहा शिक्षिकाओं तथा ग्रामीण तबके की शिक्षित महिलाओं का नैतिक शोषण , तालेवर गोढ़ी जैसे नव-अर्थपतियों द्वारा हो रहा लोगों का आर्थिक व नैतिक शोषण , तंत्रविधा, भूत-प्रेत, झाड़-फूंक जैसे अन्धविश्वासों द्वारा लोगों का शोषण , उसके द्वारा तंत्र-साधना के नाम पर नयी-नयी स्त्रियों को फांसना जैसी अनेक गतिविधियां यहां यथार्थ के नये आयामों को व्यावर्तिक करती हैं ।

रेणु के इस उपन्यास में यौन-अनैतिकता का एक नया कोण

दृष्टिगत होता है । इस उपन्यास का तालेवर गोढ़ी निम्न जाति का है, किन्तु पैसे की ताकत तथा तंत्र-मंत्र के काल्पनिक डर से उसने समग्र गांव पर अपना एकछत्र अधिकार जमा रखा है । गांव के एक अन्य व्यक्ति जयरामसिंह की सहायता से वह गांव की लड़कियों को तांत्रिक साधना की भैरवियों के नाम पर फंसाता है । " हम जो साधना करते हैं उसके लिए औरत का होना बहुत जरूरी है । तंत्र सिद्ध करने के लिए "भैरवी" का होना बहुत जरूरी है ।"[27] गुणमंती, रेशमी, सिंगारो, गौरी ये सब गांव की लड़कियां उसकी भैरवियां रह चुकी हैं । अपनी पतोहू से भी उसका लाटसाट चल रहा है ।[28]

<u>वरुण के बेटे</u> :

जिस प्रकार "गंगा मैया" में जमीन के लिए, गंगामैया की कछार भूमि के लिए आंदोलन चलाया जाता है ; उसी प्रकार यहां एक "गढ़-पोखर" जो लोकबोली में घिस-पिट कर "गरोखर" हो गया है, की प्राप्ति के लिए मलाही-गोढ़ियारी गांव के मछुवे संघर्ष करते हैं । यह "गरोखर" तो परापूर्व से जमींदारों के कब्जे में था, परन्तु ये मछुआरे सामान्य-सा जलकर देकर इसकी मछलियों से अपनी आजीविका चलाते थे । जमींदारी-उन्मूलन के बाद इसे गांव के जमींदार जिनके कब्जे में यह था, वे दूसरे गांव के व्यक्ति को बेच देता है । यहां से संघर्ष की शुरूआत होती है । मछुआ-संघ की स्थापना होती है । उसमें मछुओं की स्त्रियां भी सम्मिलित होती हैं । मोहन मांझी, खुरखन, भोला, मंगल, माधुरी जैसे लोग संगठित होकर जमींदारों के खिलाफ विद्रोह करते हैं । अन्त में पुलिस इन सबको पकड़ कर ले जाती है । लेकिन वे अपने निश्चय पर अडिग रहते हैं, क्योंकि उनके संगठन ने तय किया था कि कैसी भी कठिन और विपरीत परिस्थिति आए पर वे घुटने नहीं टेकेंगे । " छोड़ा नहीं जाय, गढ़ पोखर पर हमेशा अपना अधिकार रहा है । जमींदार जलकर लेता था, हम देते थे । नया खरीदार दूसरे-तीसरे गांव के मछुओं को मछलियां निकालने का ठेका देता चलेगा और हम पुश्तैनी अधिकारों से वंचित होकर घूमते फिरेंगे । भला यह भी क्या मानने की बात है । "[29]

"कुछ आलोचक नागार्जुन पर प्रचार का आरोप लगाते हैं ।

पर भारत के कोने-कोने से उठने वाली अधिकार-रक्षा की लड़ाई का चित्रण यदि प्रचारवाद है तो क्या प्रभुओं की रंगरेलियों के गीत गाना ही साहित्य-सर्जना करना है ? वास्तविकता यह है कि लेखक ने ग्रामीण-जीवन का सही-सही चित्रण ईमानदारी के साथ किया है । " [30]

लेखक ने कहीं-कहीं भूदान और श्रमदान के खोखलेपन तथा उसमें निहित पाखंड और प्रदर्शन-वृत्ति की बखिया भी उधेड़ी है — " खाते-पीते परिवारों के शौकिया श्रमदानी सज्जनों की बात ही और थी , उनकी सुविधा के अनेक साधन कोसी-किनारे जुट गये थे । चाय-बिस्कुट , पान-सिगरेट , शर्बत-मिठाई , पूड़ी-कचौड़ी , चूड़ा-दही , रेडियो , सिनेमा, रिकार्ड , माइक , लाउडस्पीकर , अखबार और पत्रिकाएं ... । पास-पड़ोस के परिचित कांग्रेसी नेताओं की सिफारिश से वे पटना या दिल्ली से आये ऊँचे पदाधिकारियों के साथ भीड़ में खड़े हो जाते और फोटो खींच जाती । इन लोगों का श्रमदान क्या था , बैठे-ठाले का अच्छा मनोरंजन था । " [31]इस प्रकार लेखक आज के जीवन की कृत्रिमता , प्रचार-वादिता और नकलीपन पर सूक्ष्म और गहरे व्यंग्य करने में चूकता नहीं है ।

<u>कब तक पुकारूं</u> :

प्रगतिशील विचारधारा के एक ज्वलंत नक्षत्र से रांगेय राघव " कब तक पुकारूं " में करनटों के यथार्थ जीवन के कुछ नुकीले कोणों को ले आए हैं । "वरूण के बेटे " में मछुओं की जिन्दगी है , तो "कब तक पुकारूं" में खेल-तमाशों के द्वारा आजीविका प्राप्त करने वाले नटों के जीवन को , उनकी कथा-व्यथा को सुखराम के चरित्र के माध्यम से प्रस्तुत किया है । उपन्यास के संबंध में स्वयं लेखक ने यह कहा है : " इस कथा की वर्णनात्मकता मेरी है , परन्तु तथ्य उसीके (सुखराम के) दिए हुए हैं । "[32]

उपन्यास राजस्थान और ब्रज की सीमा पर बसे कुछ गांवों और वहां के लोगों के अज्ञान, अशिक्षा, अन्धविश्वास, गरीबी और शोषण को सामने लाता है । लेखक की प्रगतिवादी दृष्टि ने यह भी देख लिया कि उनके इस शोषण के लिए रीति-रिवाज तथा रूढ़िवादी परंपराओं द्वारा पोषित और अनुमोदित धारणाएं भी कम उत्तरदायी नहीं है । परन्तु

इन सबके केन्द्र में तो वहाँ के करनटों की जिन्दगी है । ये करनट खाना-बदोश होते हैं । उनकी कोई नैतिकता नहीं होती, क्योंकि सहस्त्राधिक वर्षों के शोषण ने उनकी आत्मा या चेतना को ही ग्रस लिया है । खेल-तमाशों के साथ ये छोटी-मोटी चोरियां भी करते हैं और इस विषय में इतने बदनाम हैं कि कहीं भी , किसी के भी द्वारा चोरी क्यों न हुई हो , सबसे पहले इनको धर लिया जाता है । इसका एक अन्य कारण यह भी है कि ऐसा करने से पुलिस वालों को , दारोगा इत्यादि को , उनकी बहू-बेटियों पर हाथ साफ करने का मौका हासिल हो जाता है । इस संबंध में एक प्रसंग आया है। विवाह के पश्चात खेल दिखाते समय दरोगा प्यारी (सुखराम की पत्नी) पर मोहित हो जाता है और उसे प्रणय-लीला के लिए बुलाता है , तब प्यारी सुखराम के भय से इंकार कर देती है (वैसे दूसरे नटों से सुखराम थोड़ा भिन्न लगता है , क्योंकि वह अपने को किसी ठाकुर का लड़का समझता है , अन्यथा अन्य करनट तो बुरा नहीं मानते , बल्कि उनकी आँखों का पानी इतना सूख गया है कि इसे वे अपना सौभाग्य तक समझ सकते हैं ।) तब उसकी माँ उसे औरत का धर्म समझाते हुए कहती है — " अरी ये तो औरत के काम हैं । उसे बताने की जरूरत ही क्या है । xxx औरत का काम औरत का काम है। उसमें बुरा-भला क्या ? कौन नहीं करती ? " [33]

रांगेय राघव में गहरी मानवीय दृष्टि तथा दलित-शोषित के उत्पीड़न के प्रति एक आक्रोश का भाव मिलता है । सुखराम के रूप में मानो लेखक का दिल ही कराह रहा है — " ये दुनिया नरक है । हम गन्दे कीड़े हैं । तूने यह संसार ऐसा क्यों बनाया है , जहाँ आदमी कटता है तो इसके लिए दर्द तक नहीं होता । यहाँ पाप इतना बढ़ गया है कि गरीब और कमीना आदमी कोढ़ी बनकर अपने पेट के लिए अपनी अच्छी देह को बन्दा बना लेता है । यहाँ एक आदमी देवता है , पर हम तो कमीन हैं । वो बड़े लोग क्यों करते हैं ऐसा ? क्या वे अपने धन और हुकूमत के लिए आदमी पर अत्याचार करने में नहीं कांपते ? तू चुप है । तू जवाब नहीं देती । नट की छोरी पर जवानी आती है और गन्दे आदमी उसे बेइज्जत करते हैं , फिर भी वह रंडी की तरह जिए जाती है । मर क्यों नहीं जाती ? हम सब मर क्यों नहीं जाते ? " [34]

इस उपन्यास में वर्णित करनटों के संबंध में डा० सुषमा गुप्ता लिखती हैं : " करनट जरायमपेशा कहे जाने वाले खानाबदोश हैं । इनकी कोई नैतिकता नहीं होती । वे तरह-तरह के खेल दिखाकर पैसा कमाते हैं, पुरुष चोरी करते हैं । स्त्रियां शरीर बेचती हैं । वे मांस खाते हैं, शराब पीते हैं, उसके लिए शिकार भी करते हैं । स्त्रियां भी शराब-बीडी आदि पीती हैं । इसके अतिरिक्त कुमारियों का कंजरों में जाना, विवाह के पश्चात् भी परपुरुषों के साथ रहना या उनकी रखैल बनना, पति-पत्नी के बीच आये दिन लड़ाई-झगड़ा, मार-पीट होना, पुलिस के डर से आत्म-समर्पण करना आदि बातें करनटों के वैशिष्ट्यपूर्ण जीवन को चित्रित करती हैं । "35

करनटों में यौन-स्वच्छंदता सहजतया पायी जाती है । सोनी जब विधवा होती है, तब अपने ही दामाद पर नीयत खराब करती है, जिसके कारण उसकी ही बेटी उसे बुरी तरह से फटकारती है और भला-बुरा सुनाती है । प्यारी की मां सुखराम को पसंद नहीं करती क्योंकि जवान-विषयक उसकी कसौटी पर वह खरा नहीं उतरता है — " वह शराब पीता है तो थोड़े पीते में ही हिचक जाता है । किसी भी लड़की के साथ एक भी दिन नहीं पाया गया । कौन-सा जवान है, जो यह नहीं करता । वह गाली भी नहीं देता, जो मरदानगी की निशानी है, चोरी वह नहीं जानता, जुआ वह नहीं खेलता । " 36

<u>जिन्दगीनामा</u> :

कृष्णा सोबती के अन्य उपन्यासों से यह भिन्न है । लगता है, कृष्णाजी की प्रतिभा ने अपना रास्ता चुन लिया है । यह उपन्यास विभाजन-पूर्व के पंजाब के शांत, अविकल, सद्भावपूर्ण आंचलिक जीवन को रूपायित करता है । भीष्म साहनी के मतानुसार " यह किसी एक अंचल की कहानी न होकर इंसानी रिश्तों के एक विरल सामंजस की भी कहानी है, हिन्दू-मुसलमानों की सांझी संस्कृति की कहानी है, जो पुस्तक के पन्नों पर मुस्कुराती हुई सी सामने आती है, जो शताब्दियों के मेल-जोल के कारण जन-मानस में रस-बस गई है, बल्कि किस्से कहानियों के रूप में नदियों-पर्वतों में भी जुड़ गयी है । " 37

अपने आंचलिक रूपबन्ध के कारण उसकी कथा में सुसम्बद्धता का अभाव मिलता है । इसमें एक विशिष्ट देशकाल के तहत सामाजिक, सांस्कृतिक, पारिवारिक जिन्दगी को आंकने का ■ संनिष्ठ प्रयास हुआ है । अन्य आंचलिक उपन्यासों की तुलना में इसका कथ्य भिन्न इस अर्थ में है कि जहां अन्य उपन्यासों में स्वातंत्र्योत्तर भारत के हताश मूल्यविहीन जीवन का मोहभंग रूपायित हुआ है, वहां इसमें स्वतंत्रता से पूर्व कई दशक पहले के शांत-सद्भावपूर्ण जीवन तथा उनके मूल्यों को, मानवीय मूल्यों को, करीने से समेकित किया गया है ।

इसमें इंसानी रिश्तों की कई पर्तें खुलती हुई-सी जान पड़ती है । इसमें भाई-भाई, सास-बहू, देवरानी-जिठानी, हिन्दू-मुसलमान, अड़ोसी-पड़ोसी, गांव का मुखिया, उसका अन्य लोगों से संबंध, यह सब भलीभांति उजागर हुआ है । गोमा और भोली द्वारा सौतों के, समद बीबी और बेगमा द्वारा देवरानी-जिठानी के, रसूली और उसकी सास द्वारा सास-बहू के कटुता और तनावपूर्ण सम्बन्धों की व्यंजना हुई है । जायदाद के लिए शाहदाद के कत्ल की घटना भाई-भाई के स्वार्थपूर्ण संबंधों पर प्रकाश डालती है ।

यहां भी अमीरों द्वारा हो रहे गरीबों के शोषण को लेखिका ने अनेक स्थानों पर उभारा है । इस संबंध में मेहरअली के ये शब्द ध्यातव्य हैं : " गाह पड़ें, जोगें चलें, त्रिगल फिरें, दानों के ढेर लगे — खेत तो शाहों के ही है न ! अपने हिस्से तो वही मेहनताना — बाड़ी की कुछ भरिया । "[38] अमीर वर्ग हर तरह से गरीबों का शोषण करता है । तारेशाह ने पहले तो चक सनाहसों के तेलियों की बहन भगाई, फिर उन्हें कत्ल की साजिश में सजा ठुकवा दी । महीपत इसी विडम्बना को बताते हुए कहता है : " हाय ओ रब्बा, सदा ही धनाढ्यों की चोट गरीबों पर । ऊपर से औलाद भड़वी ने बरबाद कर दिया । लड़की गयी, साथ इज्जत ले गयी । घर की लाज बचाने को सामना किया पुत्रों ने तो उन्हें कैद हो गयी । गरीब की बरबादी ही बरबादी । "[39]

परंतु उक्त कटुतापूर्ण रिश्तों के साथ ही साथ इसमें सद्भावनापूर्ण मानवीय संबंधों को भी रेखांकित किया गया है । " अंचल में हिन्दू-

मुसलमानों का मिलजुल कर रहना , एक दूसरे की खुशी-गमी में शरीक होना , भाईचारे का व्यवहार करना , शाहों के यहां हिन्दू-मुसलमान दोनों वर्ग के लोगों का काम करना , शाहनी का हाकमा बीबी के साथ बहनापे का व्यवहार करना , पुरूषों की महफिल में दोनों धर्म के लोगों का मिलकर वार्तालाप करना आदि भारत-विभाजन पूर्व की सांझी संस्कृति तथा इंसानी रिश्तों की ओर संकेत करते हैं ।" 40

उपन्यास में चाची महरी एक स्थान पर कहती है : " जो कोई कहे धर्म का चोला बदलने से मनुक्ख की तासीर बदल जाती है , सो झूठ । खोजे-पराचे दीन कबूल करने से पहले अरोड़े-कराड़ ही थे न । बराबर थे । गक्खड़ों ने भी दीन कबूल कर लिया , पर ब्याह-शादी के वही हमारे वाले लांवा-फेरे और खारा-मिठाई । और सुन , इनकेढंग-कारजों में काजी-बाम्हण दोनों मौजूद रहते हैं । सुन्नत मुसलमानी को छोड़कर वहीं झंड-मुण्डन , तम्बोलमाइयां , वही बटना-न्यौदरा , वही जंज , वही सेहरे सरवाले । " 41

डा० देवराज उपाध्याय ने इसमें रसात्मकता का अभाव बताते हुए इसे एक कंकाली उपन्यास माना है । उनके अनुसार , " इसमें घटनाएं हैं ही नहीं , घटनाओं का चूरचार है । वे जीवन से अलग कब्रगाह या म्यूजियम में रखी वस्तु की तरह है । ऐसा लगता है समय-समय पर लिखित छोटे-छोटे लेख , दृश्य-चित्रण , कहानियां या विचार तरंगें हों और उन्हें ही आधुनिक उपन्यास या ' अ-उपन्यास ' के नाम पर चिपका दिया गया हो , जैसे रोटी में कुछ मूंगफली साग-सब्जी के टुकड़े या निम्बौड़ी ही सही , मिला दिये गये हों । " 42

वस्तुतः उक्त कथन को उपाध्यायजी का अत्याग्रह या पूर्वाग्रह ही कह सकते हैं । "जिन्दगीनामा" किस्सागो-शैली का उपन्यास नहीं है । न जाने उपाध्यायजी "यूलिसिस" को क्या कहेंगे ? माना कि उपन्यास में अनेक किस्से-कहानियां जड़ दी गई हैं , परन्तु उसके कारण ही एक विशाल फलक पर पंजाब का जन-जीवन मूर्तिमंत स्वरूप में समुपस्थित हुआ है । वस्तुतः इसमें पंजाब के जीवन को सूक्ष्मता से अंकित किया गया है । डा० यश गुलाटी के शब्दों में " साहित्य केवल प्रमाण मात्र

नहीं है , अपितु लोगों की जिन्दगी का जीवन्त दस्तावेज है । कृष्णा सोबती के उपन्यास इस परिभाषा को पूर्णतः चरितार्थ करते हैं ।" ‖ लिटरेचर इज नोट आ मियर डोक्यूमेण्ट बट आ लिविंग टेस्टामेण्ट ओफ द लाईफ ओफ द पिपल . क्रिश्ना सोबती'स फिक्शन लेण्ड्स द वेरी डेफिनीशन टु सच लिटरेचर. ‖ [43]

" जिन्दगीनामा" के कटु आलोचक डा० देवराज उपाध्याय भी उपन्यास के परिवेश की सफलता को स्वीकारते हैं । यथा - " यदि किसी को पंजाब प्रदेश की संस्कृति , रहन-सहन , चाल-ढाल , रीति-रिवाज की जानकारी प्राप्त करनी हो , इतिहास की बात जाननी हो , वहां की दन्तकथाओं , प्रचलित लोकोक्तियों तथा 18वीं -19वीं शताब्दी की प्रवृत्तियों से अवगत होने की इच्छा हो तो ` जिन्दगीनामा ` से अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं । " [44]

कहावत है - जादू वही जो सिर पर चढ़के बोले , और अन्ततः वह जादू उपाध्यायजी के सिर पर चढ़कर बोल ही गया । यह समझ में नहीं आता कि परिवेश की दृष्टि से इतना सफल उपन्यास अन्यथा असफल कैसे हो सकता है । आश्चर्य की बात तो यह है कि ये दोनों कथन ‖उपाध्यायजी के ‖ "समीक्षा " के एक ही पृष्ठ पर दिए गए हैं । हमारे आलोचकों में कितने अंतर्विरोध होते हैं , उसका यह एक बढ़िया उदाहरण हो सकता है । दरअसल हकीकत तो यह है कि संसार के तमाम -तमाम श्रेष्ठ व उच्चस्तरीय उपन्यासों की श्रेष्ठता का मूलाधार ~~xxxx~~ उन-उन में निरूपित परिवेश की यथार्थता ही रहा है । यहां हम डा० सुषमा गुप्ता से सहमत हो सकते हैं कि "जिस प्रकार प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों के द्वारा उत्तर भारत के गांवों का जीवन्त चित्रण किया है , उसी प्रकार कृष्णा सोबती ने "जिन्दगीनामा" उपन्यास में पंजाब के एक गांव के चित्र द्वारा संपूर्ण पंजाब प्रदेश का जीवन प्रस्तुत किया है , जो लेखिका के मातृ-भूमि के प्रति के प्रेम का परिचायक है । " [45]

आधा गांव :

डा० राही मासूम रजा द्वारा प्रणीत "आधा गांव" उपन्यास हिन्दी का ग्रामीण-चेतना से सम्बद्ध एक बहुचर्चित उपन्यास है । हिन्दी उप-

न्यास साहित्य के इतिहास में कदाचित पहली बार एक छोटे गांव में — गंगोली में — रहने वाले शिया मुसलमानों की सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक समस्याओं को उकेरने का प्रयास हुआ है। स्वयं लेखक के शब्दों में — " यह गंगोली में गुजरने वाले समय की कहानी है। कई बूढ़े मर गये, कई बच्चे जवान हो गये। यह उम्रों के इस हेर-फेर में फंसे हुए सपनों और हौंसलों की कहानी है। यह कहानी है उन खण्डहरों की जहां कभी मकान थे और यह कहानी है उन मकानों की जो खण्डहरों पर बनाये गए हैं।"[46]

इस उपन्यास की समीक्षा करते हुए डा० कुंवरपालसिंह लिखते हैं — " भारत-विभाजन इस शताब्दी की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है जिसने लगभग सभी बड़े लेखकों को अपने-अपने ढंग से कुछ-न-कुछ लिखने पर विवश किया। दो राष्ट्रों का सिद्धान्त कितना अव्यावहारिक था, इस ओर राही ने ' आधा गांव ' में संकेत किये हैं। मुस्लिम लीग की राजनीति जो वास्तव में प्रतिक्रियावादी राजनीति थी, के ऊपर जितना सशक्त प्रहार ' राही ' ने किया है और जिस प्रामाणिक ढंग से किया है उतना अन्य लेखकों में दुर्लभ है। अलीगढ़ से आये मुस्लिम लीग के कार्यकर्ताओं के लिए गंगोली के मुसलमानों को देने लायक कोई बात नहीं है। गंगोली में किसी को पाकिस्तान से कोई सहानुभूति नहीं है। वे यह मानने से इन्कार कर देते हैं कि मुसलमानों के लिए किसी दूसरे देश की आवश्यकता है। यथार्थ को जितने सही ढंग से यह अनपढ़ लोग देख रहे हैं, उतने सही ढंग से पढ़े-लिखे मुस्लिम लीग के नेताओं ने क्यों नहीं देखा, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। .... गंगोली में अच्छा-बुरा जो कुछ भी है, उसमें हिन्दू भी शामिल हैं और मुसलमान भी। ठाकुर कुंवरपालसिंह और फुन्ननमियां दोनों ही विभाजन की पीड़ा के साथ गुजरते हैं। "[47]

इस संदर्भ में बहुत ही संक्षेप में, किन्तु उतने ही सटीक ढंग से टिप्पणी करते हुए डा० रामदरश मिश्र कहते हैं कि लेखक की राष्ट्रीय दृष्टि साम्प्रदायिक अलगाव को देखकर पीड़ित होती है। उसे इस बात से दर्द होता है कि इधर कुछ दिनों से गंगोली में गंगोली वालों की संख्या कम होती जा रही है और सुन्नियां, शियों और हिन्दुओं की संख्या बढ़ती जा रही है। गंगोली को यदि भारत का प्रतीक माना जाय तो कहा जा

सकता है कि लोग भारतीय होने के स्थान पर हिन्दू या मुसलमान या अन्य सम्प्रदाय बनते जा रहे हैं । "[48] इसको यदि और बृहत्तर वृत में लें तो कह सकते हैं लोग अब पहले इन्सान होने के पहले हिन्दू-मुसलमान-सिक्ख-ईसाई आदि हो रहे हैं, और असली बात तो यह है कि वे हो भी नहीं रहे हैं, होने का ढोंग पाल रहे हैं; क्योंकि एक सच्चा हिन्दू, एक सच्चा मुसलमान, एक सच्चा सिक्ख, एक सच्चा ईसाई किसी दूसरे इन्सान का गला नहीं रेत सकता । "मानव कैसा चाहिए, यह दिखलावे धर्म । यह मानव को मारता, कबिरा जाने मर्म ।। " तात्पर्य यह कि धर्म-विषयक गलत और अधूरी समझ आज इन्सान को वहशी बना रही है । बेकल उत्साही साहब ने बिलकुल ठीक फरमाया है — " हम कहीं हिन्दू, कहीं मुस्लिम बने बैठे रहे; धर्म के चौपाल पर सारा वतन जलता रहा । " प्रस्तुत उपन्यास भी इसी दर्द को गहराता है ।

परन्तु बहुत से सही हिन्दू और बहुत से सही मुसलमानों के न चाहते हुए भी पाकिस्तान बना । यह लकीर जमीन पर नहीं, लोगों के जमीर भी खींची गयी । देश नहीं टूटा, इन्सान भी टूटा, परिवार भी टूटे । इसने मियां को बीबी से, बाप को बेटे से और भाई को बहन से अलग कर दिया । हकीम सैयद अली कबीर इसीलिए तो परेशान है — " ए बशीरा ई पाकिस्तान त हिन्दू-मुसलमान को अलग करेको बना रहा । बाकी हम ता ई देख रहे कि ई मियां बीबी, बाप-बेटा और भाई-बहिन को अलग कर रहा । "[49] अब अब्बू मियां मानते हैं कि पाकिस्तान बनने का पूरा लाभ जिन्ना को हुआ है और रब्बन बी इस माटीमिले पाकिस्तान का अन्त चाहती है । मिकदाद साफ कहता है — " अम ना जाए वाले हैं कहीं । जायें उ लोग जिन्हें हल-बैल से शरम आती है । हम त किसान है, तन्नू भाई । जहां हमरा खेत, हमरी जमीन तहां हम । "[50]सआदत हसन मण्टो की रचना "टोबा टेक सिंह" का यहां बरबस स्मरण हो आता है ।

"आधा गांव" जहां विभाजन की समस्या के दर्द को गहराने वाला उपन्यास है, वहां जमींदारी प्रथा के उन्मूलन से आये परिवर्तन को भी उसकी संपूर्ण यथार्थता में उभारता है । इस देश के जमींदारों में जो शातिर थे, चतुर थे, सियासतदां थे, वे तो पहले ही संभल गए और उन्होंने

अपनी जोत अपने कब्जे में कर ली थी । लोगों को शाम, दाम, दण्ड और भेद से समझाया गया और आखिरकार उन्होंने वही सब करा लिया जो वे चाहते थे । परन्तु गंगोली के मुसलमान जमींदार नहीं संभाल पाए अपनी जमीनों को और जमींदारी के टूटते ही उनकी अकड़ , उनकी हेकड़ी भी टूट गई । जमींदारी क्या खत्म हुई , इनकी शख्सियतों की बुनियादें हिल गयीं ।

जमींदारी-उन्मूलन से गंगोली में आये इस परिवर्तन को लक्षित करते हुए डा० पारूकांत लिखते हैं : " इसमें {आधा गांव में} लेखक ने टूटते और गहराते हुए सामन्ती मूल्यों को पकड़ने की कोशिश की है । जब तक जमींदारी रही , तब तक वह परंपरागत जीवन-प्रणाली रहती है । उसके टूटते ही जमींदारी के सब चोंचले भी क्रमशः टूटते गए । सईदा का पढ़ना और नौकरी करना अब अब्बूमियां को अखरता नहीं है । बेटी के पैसे वे नहीं लेते पर सईदा की मां बेटी द्वारा खरीदे गए मातमी लिबास को पहनकर मजलिस में अबजाने लगी है । फुस्सू मियां जूते की दूकान खोल देते हैं । शुरू में उन्हें इस व्यवसाय में शर्म आती थी और कभी-कभी झुँला भी जाते थे क्योंकि जिनकी पुश्तें उन्हें और उनके बुजुर्गों को सलाम करने में गुजरी थीं, वे जुलाहे और राकी , चमार और अहीर अब उनके ग्राहक थे, लेकिन फिर रफ्ता-रफ्ता खरीद के दाम पर कसमें खा-खाकर माल बेचने का फन उन्हें आ गया । हम्मादमियां और जवादमियां के बाद अब फुस्सू मियां की भी कुछ हैसियत बन गई कि लोग आकर उनके दरवाजे पर बैठने लगे । दागी हड्डी वाले जवादमियां के बेटे कम्मो उर्फ डाक्टर कमालुद्दीन की मातहत में अब दो सैयदजादे नौकरी करते थे जिनको बात-बेबात डांट खानी पड़ती थी । रहमत जुलाहा अब अब्बूमियां से बराबरी का व्यवहार करता है । जवादमियां अब हुसैनअली मियां जैसे पक्की हड्डी वाले सैयद घरानें में रिश्ता भेजने का साहस कर सकते हैं ।" 5।

परंपरावादी समाज केस्थानापन्न लोगों का संकेत भी " आधा गांव " में मिलता है । सुखरमवा चमार का बेटा परसुरमवा अब एम. एल. ए. हो गया है । उसके पास पक्का मकान और जीप है । अब सैयदजादे भी उसके दरवाजे पर बैठने लगे हैं । अब रमजान जुलाहा भी अपने घर के सामने वाले चौक के पास पाखाना बनवाने की जुर्रत कर सकता

है । पहले सैयदजादे निम्न जाति की बहू-बेटियों पर अपना अधिकार समझते थे और उनका नैतिक शोषण करते थे ; अब रहमत जुलाहा का लड़का बरकत, सैयदजादी कामिला से इश्क फरमाता है, क्योंकि वह अलीगढ़ में पढ़ता है और रहमत जुलाहा की आर्थिक स्थिति भी अब बदल गई है, सो गांव में उसकी भी पूछ होने लगी है । हुसैनअली मियां बिल्कुल सही कहते हैं— " जौन खूंटे पर अकड़ते रहे तौन खूंटवे कट गया । " [52] करीब-करीब इसी प्रकार की बात फुन्ननमियां भी करते हैं — " जब जमींदारियां रहीं तब तूं कौनो जोर-जबरदस्ती न किए रह्यौ । का ई हमें ना मालूम कि तूं रहमतवा की बहन से फंसे रह्यौ ? तूं जमींदार न रहे होत्यौ, त का ओ तारी बहिनिया न .... देता ? कल तोरा बखत रहा, आज बरकतवा का बखत है । " [53]

अंत में इस उपन्यास के संबंध में डा० कुंवरपालसिंह के शब्दों में यह कहने का मोह संवरण नहीं कर सकते कि " `आधा गांव` की संरचना हिन्दी के दूसरे उपन्यासों से नितान्त अलग है । पात्रों के तथा नाते-रिश्तों के लम्बे सिलसिले कभी-कभी पाठक को उलझा लेते हैं, पर राही की अभिव्यक्ति और जीवन के अनुभव इतने प्रामाणिक व ताजा हैं कि यह जटिलता उबाऊ नहीं होने पाती । बहुत अधिक पात्र होने के बावजूद राही ने फुन्ननमियां और ठाकुर कुंवरपालसिंह जैसे महत्वपूर्ण पात्रों की सृष्टि की है, जो हिन्दी उपन्यास-साहित्य के इतिहास में याद किए जाते रहेंगे । " [54]

<u>अलग अलग वैतरणी :</u>

" अलग अलग वैतरणी " डा० शिवप्रसादसिंह का एक बहुआयामी उपन्यास है, जिसमें स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण-परिवेश के नाना रूपों को उद्घाटित किया गया है । प्रेमचन्द, नागार्जुन, रेणु की परंपरा में डा० सिंह भी आ रहे हैं, जो इधर के गांवों की सच्ची तासीर और तस्वीर को हमारे सम्मुख ला रहे हैं । "आधा गांव " के गंगौली की तरह यहां "करैता" है । करैता के लोग, उनके विश्वास-अविश्वास, रीति-रिवाज, गांवों में पनप रहा हरामीपन, ग्रामीण-राजनीति के दांव-पेच, पिछड़ी जातियों का शोषण प्रभृति कई आयामों को लेखक ने अपने प्रगतिवादी अभिगम के साथ प्रस्तुत किया है ।

आरंभ के लेखकीय वक्तव्य में — तटचर्या में — अपने अभिप्रेत का संकेत देते हुए लेखक ने कहा है — " कहा जाता है कि सती-वियोग से व्याकुल शिव के आंसुओं की धारा वैतरणी में बदल गई । उस पुराण-कथा का प्रतीकार्थ जो हो , मुझे इसे पढ़ते हमेशा ही विक्षिप्त , बहिष्कृत , संत्रस्त और भीड़ के संगठित अन्याय के विरूद्ध जूझते शिव की याद आ जाती है । जब शिवत्व तिरस्कृत होता है , व्यक्ति के हक छीने जाते हैं , सत्य और न्याय अवहेलित होते हैं , तब जन-जन के आंसुओं की धारा वैतरणी में बदल जाती है । नर्क की नदी बन जाती है । " 55

प्रस्तुत उपन्यास में भी "करैता" गांव के माध्यम से स्वाधीनता बाद के भारतीय ग्रामीण जन-जीवन की विविध वैतरणियों की ओर लेखक ने दृष्टिपात किया है । जैपालसिंह टूटती जमींदारी और सामन्ती-व्यवस्था के प्रतीक हैं । करैता छोड़कर वे मीरपुर चले जाते हैं , क्योंकि जिस धरती का चप्पा-चप्पा "बबुआन के रौब और ऐश्वर्य की सांसो से भीगा है , उसी पर अपनी आखिरी हार कीकहानी वे छोड़ना नहीं चाहते । मीरपुर में उन्हें बदली आंखों से देखने वाला कोई नहीं था । वे सदा के जैपाल थे । " 56

जैपाल करैता में कदम न रखने की मन ही मन प्रतिज्ञा करते हैं। परन्तु ग्रामसभा के चुनाव के समय उन्हें करैता आना पड़ता है , क्योंकि सरपंच के रूप में अपने मं गुर्गे सुखदेवराम को वे बिठा देना चाहते हैं , ताकि सुरजूसिंह के बढ़ते प्रभाव को रोका जा सके । टूटती जमींदारी की कसक , अपने अयोग्य पुत्र बुझारथसिंह के कुकृत्यों की पीड़ा तथा पुत्रवधू-कनिया के भविष्य की चिन्ता जैपाल के मन की वैतरणी है ।

विपिन और देवनाथ जैसे शिक्षित नव-युवक गांवों में आकर कुछ करना चाहते हैं । उनकी आंखों में आदर्शवादी सपने तैर रहे हैं जो उन्होंने शहरों में पढ़ते हुए बटोरे थे , परन्तु एक ही साल में उनका उत्साह जवाब दे देता है । देवनाथ कस्बे में एक दवाखाना खोलकर बैठ जाता है और विपिन गाजीपुर डिग्री कालेज में प्रोफेसरी करने चला जाता है । विपिन के शब्दें×में शब्दों में कहें तो " करैता एक जीता-जागता नरक है , जिसमें वही आता है जिसके पुण्य समाप्त हो जाते हैं । चारों ओर कीचड़ , बदबूदार

नाबदान , गू-मूत , बीमारियां , कुलबुलाते कीड़े , मच्छर , जहरीली मक्खियां — इसके बीच भुखमरी , डरावनी हड्डियों के ढांचे , किचरीली आंखों और बीमारी से फूले पेट वाले छोकरे , घरों में बन्द गन्दगी में आपाद-मस्तक डूबी औरतें और एक-दूसरे को खुले आम चौराहे पर नंगियाने में ही सारा सुख और खुशी पाती हैं , धुंधलाते मन के अपाहिज जैसे नवयुवक , जो अन्धेरी बन्द गलियों में बदफैली करने का मौका ढूंढते फिरते हैं , हारे-थके प्रौढ़ , जो न गृहस्थी के जुए को उतार पाते हैं , न उसमें उत्साह से जुत पाते हैं । मौत का इन्तजार करते बूढ़े अपने ही बेटे-बेटियों से उपेक्षित बिलबिलाते रहते हैं — यही है हमारी जन्मभूमि करैता । " 57 और करीब-करीब यही प्रतिभाव उन सभी ग्रामीण नवयुवकों का रहता है , जो कभी गांवों से शहरों में आये थे और अब पुनः गांवों में लौट जाना चाहते हैं , पर वहां भी उनके पंख कट जाते हैं । बिना पंख के फड़फड़ाते रहना यह उनकी वैतरणी है ।

विपिन के निरुत्साहित होने का एक कारण पुष्पी का विवाह भी है , जिसे वह बचपन से चाहता रहा , परन्तु अपने पुराने संस्कार तथा भीतरी कायरता से वशीभूत हो कभी स्वीकार न सका । " गांव की सड़ियल स्थिति , पुष्पा के विवाह से उत्पन्न मनोभंग अवस्था , बड़े भाई बुझारथसिंह की नालायकी के कारनामे , भाभी /कनिया/ की करुण स्थिति आदि की वैतरणी में वह डूबता-उतराता रहता है । जग्गन मिसिर का भावी जीवन एक वैतरणी बन गया है । गोपाल और कल्पू कुसंग की वैतरणी के शिकार हैं । गांव के मनचले लोगों की घिनौनी वैतरणी है चमटोल । बुझारथसिंह और सुगनी , तथा सुरजूसिंह और सुगनी के अनैतिक संबंध , जगेसर की यौन-विकृति /नंगी औरतों की तस्वीरें देखना आदि/, हेडमास्टर जवाहरसिंह का अपने ही शिष्य के साथ हमबिस्तर होना तथा उससे पत्नी का काम चलाना यह बड़ी बीहड़, जघन्य और दुस्तर काम की वैतरणी है । ... यह और ऐसे अनेक लोगों के आंसुओं की वैतरणी उपन्यास में सर्वत्र मिलती है । " 58

उपन्यास की "तटचर्या " में लेखक ने उपन्यास के आंचलिक गिने जाने के कारण उसके महत्व के सीमित हो जाने की आशंका प्रकट की है , और

" मैला आंचल" की सफलता के बाद हिन्दी में "आंचलिकता" की जो बाढ़ आयी , उसे देखते हुए , उनकी आशंका अकारण भी नहीं थी , परन्तु यह भी उतना ही सच है कि xxxx किसी उपन्यास के आंचलिक होने से उसका महत्व कम या सीमित नहीं हो जाता ।" गहरी मानवीय संवेदना और अपनी जमीन से जुड़े रहने के कारण आंचलिक उपन्यास भी मानवता की अमूल्य निधि बन सकता है । अपने इन्हीं गुणों के कारण "मैला आंचल" , "आधा गांव", "जिन्दगीनामा" , "जल टूटता हुआ" प्रभृति उपन्यास आंचलिक होते हुए भी हिन्दी उपन्यास की xxxx उपलब्धियों में परिगणित होते हैं और ऐसी ही एक उपलब्धि है — " अलग अलग वैतरणी " । इस 688 पृष्ठीय उपन्यास में ग्रामीण जीवन का यथार्थ अपनी समग्रता के साथ उजागर हो उठा है । पात्र कथा का निर्माण करते चलते हैं । कथा की बुनावट (क्राफ्ट आफ द नोवेल) ऐसी है कि बाहर से बिखराव लगता है , परन्तु भीतर से देखने पर एकसूत्रता एवं सुसम्बद्धता को लक्ष्य किया जा सकता है । इस प्रकार करैता गांव की समस्या एक प्रकार से पूरे भारत की समस्या है । " [59]

उपन्यास में इधर फैलती जा रही मूल्यहीनता को लेखक ने एक दर्द के साथ उकेरा है । पहले लोग गलत काम करते थे , तो चोरी-छिपे करते थे , उन्हें डर रहता था , संकोच होता था , झिझकते थे , परन्तु अब तो सब साफ नंगई पर उतर आए हैं — " मैं साफ नंगई कर जाऊंगा , तुम क्या कर लोगे ? मैं साफ दंगई कर जाऊंगा , तुम क्या कर लोगे ? " [60] अतः सर्वत्र एक दमघोंटू वातावरण मिलता है । शशिकान्त इसी मूल्यहीनता को संकेतित करता है — " पहले शोषण था , अत्याचार था , गरीबी थी और जहालत थी । पर दिमाग में कुछ ऐसा भी था , जो इन्सान को सीमा लांघने से रोकता था । अब यह अंकुश नहीं रहा । न ईश्वर का डर है , न इज्जत और प्रतिष्ठा के जाने का खतरा है । न जमींदार का डर है , न समाज का । अब आदमी सचमुच स्वतंत्र है । बिल्कुल स्वतंत्र xxx इन्सान है कि पहले से तंग हो गया , दिमाग से , मनसे और कर्म से । " [61]

इस प्रकार हम देख सकते हैंकि " अलग अलग वैतरणी " में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण-जीवन की विसंगतियों , विकृतियों एवं विद्रूपताओं

को यथार्थतः प्रस्तुत किया गया है । डा० परमानन्द श्रीवास्तव ने बहुत उचित रूप से कहा है कि " लेखक ने एक खास सजीव ग्रामीण परिवेश करैता की ठनक पहचानने के बहाने आजादी के बाद के समूचे भारतीय जीवन की तब्दिलियों, विसंगतियों , कठोर सच्चाइयों और प्रतिक्रियाओं से सीधा साक्षात्कार करने की कोशिश की है । " 62

जल टूटता हुआ :

डा० रामदरश मिश्र के इस उपन्यास का "जल" ग्रामीण-जीवन का , मूल्यों का , नैतिकता का , प्रेम का , रसात्मकता का , जीवनोल्लास का "जल" है ; जो जगह-जगह टूट रहा है । टूटना बुरा नहीं है । पर जो टूटना चाहिए वह नहीं टूट रहा । टूटना चाहिए अंधकार , अज्ञान , रूढ़िवादिता , शोषणलीला ; पर टूट रहे हैं जीवन-मूल्य और नये मूल्य स्थापित नहीं हो रहे हैं । मूल्यहीनता की यह घोर अराजकता ही लेखक की चिन्ता का विषय है और यही इस उपन्यास का कथ्य भी ।

"जल टूटता हुआ " एक महत्वपूर्ण उपन्यास है, क्योंकि डा० हेतु भारद्वाज के शब्दों में "जीवन के प्रश्नों से साक्षात्कार की क्षमता इसमें अवश्य है । इसके रंगचित्र एवं खण्डचित्र मनोरम तथा प्रभावशाली हैं , ये चित्र उपन्यास को जीवन्तता प्रदान करते हैं । " 63

प्रस्तुत उपन्यास का गठन विस्तृत फलक पर हुआ है । स्वतंत्रता के बाद के इस कालखण्ड को उसके ग्रामीण परिवेश में उसकी समूची संश्लिष्टता एवं जटिलता के साथ लेखक ने उकेरा है कि 574 पृष्ठों का यह उपन्यास अपनी संरचना में महाकाव्यात्मक चेतना से युक्त हो गया है । इस बृहद्काय उपन्यास में कछार-अंचल के तिवारीपुर गांव के माध्यम से सतीश , अमलेशजी, जमींदार महीपसिंह , दीन दयाल , कुंजू , बदमी , मास्टर सुग्गन , दलसिंगार मउगा , धनपाल , बनवारी, महावीर , मास्टर उमाकान्त पाठक , शारदा , लवंगी आदि पात्रों के द्वारा लेखक ने एक सजीव ग्रामीण-जीवन को अंकित करते हुए उसमें व्याप्त सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक विरूपताओं के परिवेश को गहरे दर्द एवं संवेदना के साथ उभारा है ।

उपन्यास का प्रारंभ ही स्वाधीनता-दिवस समारोह से

होता है । मास्टर सुगन के अतीत-प्रत्यावलोकन द्वारा लेखक ने आजादी के बाद का जो चित्र अंकित किया है, वह आशाजनक नहीं है । रेणु ने "मैला आंचल में बावनदास के द्वारा जो निष्पादित किया है, उसका मूर्त रूप हमें यहां मिलता है । स्थिति की विडंबना यह है कि यह समारोह डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के सदस्य जमींदार महीपसिंह की अध्यक्षता में हो रहा है, जो कभी बड़े भारी अंग्रेज-भक्त थे । आजादी मिलते ही उन्होंने अपना स्वांग बदला और ग्रामीण राजनीति पर हावी हो गये । " महीपसिंह राजनीतिक अवसरवादियों के प्रतिनिधि हैं, जो स्वतंत्रता की विरासत पर कुण्डली मारकर बैठ गये हैं ।"[64]

उपन्यास में ग्रामीण जीवन के कई चित्र आए हैं । ग्रामीण राजनीति, चुनावी-हथकण्डे, सामाजिक मूल्यों की टूटन, भाई-भाई के संबंधों में बढ़ती स्वार्थ-भावना, चकबन्दी, नव-अर्थपतियों का कमीनापन, गांवों में पिछड़ती पिछड़ती और दम तोड़ती शैक्षिक स्थिति, शिक्षा का व्यवसायीकरण, मेले-ठेलों और उत्सवों का फीका पड़ता जाना, कर्तव्य-भावना के स्थान पर फरज-अदायगी, गर्हित अनैतिक सम्बन्धों का एक लम्बा सिलसिला, प्रेम-भावना-रहित यौन-संबंधों का पनपते जाना, मास्टर उमाकान्त और शारदा का प्रेम-प्रकरण, कुंजू-बदमी के सम्बन्ध, अस्पताल तथा पक्के रास्ते के अभाव में होने वाली असामयिक मृत्यु-घटनाएं, दलसिंगार मउगा का खून, पुलिस तथा न्यस्त हितों द्वारा बिरजू को फंसाने की चाल, दीनदयाल द्वारा गरीबों का शोषण, महीपसिंह का आतंक, हरिजन-कन्या लवंगी का पुण्य-प्रकोप जैसे अनेक चित्र उपन्यास के जीवन्त यथार्थ को उकेरते हैं ।

डा० रामदरश मिश्र ने इस उपन्यास के द्वारा एक नयी चेतना का संकेत दिया है । जो लोग इस देश में राजनीतिक स्वतंत्रता को लेकर कहते हैं कि खास कोई बदलाव नहीं आया है, पिछड़ी जातियों को दिए जाने वाले अधिकारों से केवल कुछ पार्टियों की "वोट-बैंक" तैयार हुई हैं और पिछड़ी जातियों का कोई खास कल्याण नहीं हुआ है, उन्हें डा० मिश्र का यह उपन्यास अवश्य पढ़ना चाहिए । माना कि शोषण चल रहा है, पिछड़े पिस रहे हैं, पर एक नयी चेतना भी धीरे-धीरे जन्म ले रही है, जिसे अनचिन्हा नहीं छोड़ा जा सकता । जसपतिया चमार

अब महीपसिंह से यह कहने की हिम्मत जुटा पाया है कि "बबुवा , गाली मत दीजिए । रमपतिया नौकरी पर गया है , तो क्या हो गया ? नौकरी नहीं करेंगे तो हम लोग खायेंगे क्या ? " [65] लवंगी के पुण्य-प्रकोप में भी इसे लक्षित किया जा सकता है । बात यह है कि लवंगी का भाई हंसिया पारवती नामक एक उच्च जाति की लड़की से आशनाई करते हुआ पकड़ा जाता है । वस्तुतः पार्वती ने ही उसे फांसा था , पर जब पकड़ी जाती है , तब सारा दोष हंसिया पर थोप देती है । यह हंसिया की खानदानी है कि मृतप्राय कर देने वाली पिटाई के बावजूद वह पार्वती की बात का प्रतिवाद नहीं करता । वे लोग तो हंसिया को जान से मार ही डालते , पर लवंगी वहां पहुंच जाती है । उस समय का लवंगी का रूप किसी काली-दुर्गा से कम नहीं दिखता । वह कहती है -- " क्या हुआ अगर मेरे भाई ने एक बामन की लड़की से भला-बुरा किया ? ... चमार का खून खून नहीं है ? बामन का खून ही खून है ? हमारी कोई इज्जत नहीं होती क्या ? बामनों की ही इज्जत होती है ? .... जब चमरौटी की तमाम लड़कियों पर ये बाबा लोग हाथ साफ करते हैं तो कोई परलय नहीं आती और कोई चमार बामन की लड़की को छू ले तो परलय आ जाती है । .... हरिजनों के नेता , मैं तुमसे फरियाद करती हूं कि वोट लेने वाले नेताओं से जाकर कहो कि हमारा खून खून नहीं है , हमारी इज्जत इज्जत नहीं है , तो हमारा वोट ही वोट क्यों है ? " [66] लवंगी का यह कथन उनमें आयी नयी चेतना तथा दृष्टि-परिवर्तन को उद्घाटित करता है । "गोदान" की सिलिया यहां दूसरे रूप में आयी है ।

सतीश के आत्म-प्रलाप में भी इसे लक्षित किया जा सकता है । " गांव टूट रहे हैं , मूल्य टूट रहे हैं , सत्य टूट रहा है , कोई किसी का नहीं , सब अकेले हैं , एक-दूसरे के तमाशाई , वही क्यों सबका ठेका लिए फिरे .... गांव टूट रहा है । मगर नहीं एक नया गांव बन भी रहा है , वह है किसानों-मजदूरों का । जगपतिया का खेत नहीं कटवा सके महीपसिंह । वह अकेला नहीं था उसके साथ अनेक हाथ उठ गए थे मरने-मारने को तैयार । " [67]

वस्तुतः इस उपन्यास में मिश्रजी ने बांध को तोड़कर फैलते

बाढ़ के पानी का एक सार्थक सटीक प्रतीक को लिया है । बांध का पानी बाढ़ के कारण जगह-जगह तोड़कर फैल रहा है, क्योंकि कभी भी उसे ठीक तरह से बांधने का प्रयत्न नहीं होता है । जब कभी बाढ़ आती है, संकट घिरने लगता है, तब तात्कालिक ठीक-ठाक करके काम चलाया जाता है, परन्तु स्थायी दृष्टि से उसका कोई उपाय न कभी ढूंढा जाता है और न ही उस पर कोई गंभीरता से सोचता है । ठीक उसी तरह "स्वाधीनता के बाद भी शोषण और गरीबी को बांधने का कोई प्रामाणिक प्रयत्न नहीं हुआ । कुछ कार्य तात्कालिक लाभ-हानि की दृष्टि से हुए । परन्तु महीपसिंह, दीनदयाल और दौलतसिंह जैसे नेता लोग हमारे सपनों को निगल गए हैं और आजादी के बाद भी आम आदमी की स्थिति सुग्गन, जग्गू, कुंजू, बदमी, महावीर, सतीश, राजकुमार आदि से बेहतर नहीं है ।" 68

कुंजू-बदमी तथा उमाकान्त पाठक और शारदा की प्रेम-कथाएं उपन्यास को रसात्मक बनाती है, इतना ही नहीं वे ग्राम्य-जीवन के नये आयामों को संकेतित भी करती है । पाठक-शारदा का प्रेम "मैला आंचल" की कमली और प्रशांत के प्रेम जैसा है । शारदा दीनदयाल की बेटी है । पहले तो वे इस सम्बन्ध के लिए राजी नहीं होते, पर बेटी की जिद के आगे उन्हें झुकना पड़ता है । पर उपन्यास में प्रगतिशील आयामों को चिह्नित करने वाली प्रेम-कथा तो बदमी-कुंजू की है । कुंजू ब्राह्मण ठाकुर है, जबकि बदमी चमारिन, परन्तु दोनों का प्रेम-संबंध अनैतिक संबंध न रहकर विशुद्ध प्रेम की सीमा को छूता हुआ जातिवाद की प्राचीरों से ऊपर उठ जाता है और कुंजू सबके सामने बदमी को अपनी पत्नी के रूप में अंगीकृत करता है । कुंवर कृष्णकुमारसिंह के उपन्यास "पीले पत्ते" ‍‍(1946) में भी उपन्यास का नायक अशोक कुलीन जमींदार होते हुए भी नन्हकू चमार की बेटी केतकी से विवाह करता है, यह पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है । अशोक एक पढ़ा-लिखा मार्क्सवादी युवक है, परन्तु यहां कुंजू तो एक अर्द्धशिक्षित भावुक प्रेमी-मात्र है । हां, उसे सतीश का साथ-सहयोग जरूर मिलता है । इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास का सुर एकदम निराशावादी भी नहीं है । कुछ ज्योति-बिंदु लेखक ने उकेरे हैं, जो अपनी किरणों से पाठकों को, कहीं न कहीं भीतर से आशान्वीत करते हैं । उपन्यास के अन्त में सतीश के भाई

चन्द्रकान्त को आई.ए.एस. में उत्तीर्ण होते हुए दिखाकर लेखक ने अपने आदर्शोन्मुख संस्कारों का ही परिचय दिया है ।

डा० विवेकीराय ने इस उपन्यास में उकेरित सतीश के पात्र को लेकर कहा है — " फटे कुर्ते-धोती वाले इस नौजवान का रिसता घाव एक सत्य है । उसके स्वर में एक ~~गंभीर चुनौती है~~ गंभीर चुनौती है । कथाकार रामदरश मिश्र ने गांव की उभरी समस्याओं और परिवर्तित सामाजिकता को मथकर इस चुनौती को स्वीकार किया है । " 69

सूखता हुआ तालाब :

"सूखता हुआ तालाब" डा० रामदरश मिश्र का एक लघु-उपन्यास है । इसमें भी "तालाब" प्रतीक के रूप में आया है । देवप्रकाश अपने गांव के — शिकारपुर गांव के — रामी तालाब के किनारे बैठे हैं । पहले यह तालाब बड़ा मनोरम हुआ करता था । उसका जल स्वच्छ और निर्मल था । परन्तु अब उसमें गन्दगी ही गन्दगी है । पहले गांव के सारे तीज-त्यौहार इसके किनारे संपन्न होते थे , पर अब यह मल-मूत्र के विसर्जन और मछली मारने के काम में आता है । तालाब सार्वजनिक संपत्ति है , पर गांव के शिवलाल तथा शामदेव जैसे कुछ लोग उसे हथिया लेना चाहते हैं । और क्या गांव का संपूर्ण-जीवन भी इन लोगों ने नहीं हथिया लिया है ? इस प्रकार यह ग्रामीण-जीवन के गन्दे होते जाने की कहानी है ।

उपन्यास की कुल कहानी इतनी है कि देवप्रकाश भी "अलग अलग वैतरणी " के विपिन और देवनाथ की तरह गांव में रहकर कुछ करना चाहते हैं , इसलिए वे शहर से अच्छी-खासी सरकारी नौकरी को लात मारकर गांव चले आते हैं । परन्तु उनकी दो-टूक निर्भीकता, सिद्धान्तप्रियता और स्वार्थहीनता उन्हें गांव के वातावरण में जमने नहीं देती, क्योंकि " गांव अब शिवलाल , शामदेव, मास्टर धर्मेन्द्र, बनारसी, कामरेड मोतीलाल जैसे बदमाश और हिजड़ेनुमा नेताओं का अड्डा बन गया है । " 70

विषाक्त राजनीति के कारण ग्रामीण-परिवेश में फैलती जाती जटिलता और मूल्यहीनता को यहां निष्पादित किया गया है । पहले पारस्परिक सम्बन्धों तथा भावनाओं के आधार पर ग्रामीण जीवन का

दारोमदार था , अब उसका स्थान गलाकाट राजनीति ने लेलिया है । राजनीति की यह काली नागिन सबकुछ लीलती जा रही है , सबकुछ -- जीवन, जीवन का रस , आनंद , उल्लास , उमंग , मानव होने का गौरव , उसमें निहित मानव-मूल्य , उनकी सुन्दरता यह सबकुछ उजड़ा जा रहा है । देवप्रकाश की आत्म-प्रतारणा में इसे हम लक्षित कर सकते हैं : " क्या है मानवता? क्या है मूल्य ? कुछ नहीं बचा है । बचा है केवल सुख-सुविधापरक समझौता ! तब तो कहीं कुछ भी विश्वसनीय नहीं , नहीं कुछ भी अटूट नहीं , कहीं कुछ भी मूल्य नहीं , आत्मीय नहीं । " 7।

पूरे शिकारपुर गांव में देवप्रकाश को केवल जैराम या शंकर जैसे एक-दो लोगों का साथ-सहयोग मिलता है , पर वह भी ज्यादा समय नहीं टिकता , क्योंकि जैराम के बड़े भाई के स्वर्गवास के उपलक्ष्य में दिए गए ब्रह्मभोज में गांव के लोगों के दबाव तथा खुद जैराम की भाभी की जिद के कारण अपनी छाती पर पत्थर रखकर जैराम को देवप्रकाश के परिवार को बहिष्कृत करना पड़ता है । इसे नैतिक मूल्यों पर ग्रामीण राजनीति की पार्टीबन्दी की विजय ही कह सकते हैं ।

दोस्ती-दुश्मनी तथा स्त्री-पुरुष के अनैतिक सम्बन्ध ग्रामीण-परिवेश में पहले से ही परिव्याप्त हैं , परन्तु पहले इनमें जहां सरलता और मर्यादा रहती थी , वहां अब राजनीतिक जाले आ गए हैं । देवप्रकाश का भाई अवतार पड़ोसी गांव की पासिन के साथ पकड़ा जाता है । इस बात पर शिवलाल, शामदेव, मास्टर धर्मेन्द्र आणि मंडली के लोग देवप्रकाश के घर को पट्टीदारी से बाहर कर देते हैं । ऐसा नहीं है कि शिकारपुर में नैतिकता का मान बड़ा ऊंचा है । यदि ऐसा होता , तब तो उनका उक्त बंदोबस्त , न्यायोचित ठहरता । पर ये न्याय-देवता , जगत-काजी , खुद ऐसे मामलों में आकण्ठ डूबे हुए हैं । शिवलाल विधुर है और हमेशा अपनी हलवाइनों से फंसे रहते हैं । शिवलाल , दयाल तथा मास्टर धर्मेन्द्र -- ये तीनों त्रिदेव -- चेनइया चमारिन से यौन-संबंध रखते हैं । मास्टर धर्मेन्द्र तो अपनी पट्टीदार बहन कलावती {शिवलाल की पुत्री} तक को गर्भवती बना देते हैं । और इस सड़ियल राजनीति और पार्टीबन्दी की चरम-सीमा तो तब आती है , जब इन यौन-संबंधों को भी अपने हित में प्रयुक्त करने का प्रयास होता है । जब शिवलाल की पुत्री का भांडा

~~लx~~ है फूटता है, तब इस डूब मरने वाली बात से भी फायदा उठाने की बात शिवलाल का पुत्र रामलाल करता है। बाप-बेटे दोनों को मालूम है कि यह धर्मेन्द्र का काम है, फिर भी वे अपने विरोधी ग्रुप के देवप्रकाश के लड़के रवीन्द्र को उसमें फंसाना चाहते हैं और जैराम के द्वारा कलई खुल जाने पर बजाय शरम करने के रामलाल चिल्ला-चिल्ला कर कहता है — " आं गांव वाले सालों की क्यों छाती फटती है ? धरमेन्दर भैया ने कुछ किया है तो मेरी ही बहन के साथ किया है न ? " [72]

यहां तक कि ग्रामीण देवी-देवताओं को भी राजनीति के इस कीचड़ में घसीटा जाता है। कामरेड मोतीलाल को उक्त चंडाल-चौकड़ी नीचा दिखाना चाहती है। जगेसर ग्रामदेवता का ओझा है। उसके साथी को कहा जाता है कि वह प्रेतबाधा का ढोंग करे। जब वह ऐसा करता है तब ओझागिरी के द्वारा यह प्रस्थापित किया जाता है कि उसे तो मोतीलाल की भयउ (छोटे भाई की पत्नी) का "पेटमहुआ" लग गया है। "पेटमहुआ" उस प्रेत को कहते हैं जो भ्रूण-हत्या के कारण प्रेतरूप में आता है। सभी जानते थे कि मोतीलाल के सम्बन्ध उनकी भयउ से हैं। वह उनके छोटे भाई की विधवा पत्नी थी।

डा० पारूकांत ने इस उपन्यास की समीक्षा करते हुए लिखा है कि " अनेक विरोधी परिमाणों को आमने-सामने उपस्थित करके लेखक ने मार्मिक व्यंग्य की सृष्टि की है। लीला तथा कलावती जैसी ब्राह्मण-कन्या-ओं के आचरण के विपरीत चेनइया जैसी चमार कन्या का गर्भ न गिराकर समाज को चुनौती देने का साहस करना ; कामरेड मोतीलाल की समझौता-परस्त सिद्धान्तवादिता ; एम.ए. में पढ़ने वाले बाबू पारसनाथ का ओझा-सोखा आदि में विश्वास व्यक्त करना ; चमारिनों से शारीरिक सम्बन्ध रखते हुए मास्टर धर्मेन्द्र का छुआछूत सम्बन्धी दम्भ ; विष्णु-पुराण की कथा के उपरान्त फिल्मी-गीतों को भजन के रूप में गाना ; आटाचक्की के साथ ही जलेस्सर के यहां से ओझा की डुगडुगी की आवाज़ का आना ; भूत- प्रेत जैसी अन्य मान्यताओं का भी राजनीति में उपयोग करना ; आदि इसके उदाहरण हैं। " [73] इस प्रकार इस लघु -उपन्यास में लेखक ने ग्रामीण जीवन ~~की~~ कई विसंगतियों, विकलांगताओं और विद्रूपताओं को समेकित किया है।

धरती धन अपना :

"धरती धन न अपना " जगदीशचन्द्र का प्रथम उपन्यास है , परन्तु प्रथम होते हुए भी इसकी इधर की प्रमुख औपन्यासिक कृतियों में परि-गणना होती है ।लेखक एक प्रगतिवादी दृष्टि संपन्न व्यक्ति है । वह अर्थशास्त्र का भी अध्येता है ।[74] इसके पूर्व अनेक उपन्यासों में हरिजन-चमार की समस्याओं को लिया गया है , परन्तु हरिजन और केवल हरिजन की समस्याओं को केन्द्रस्थ करने वाला हिन्दी का यह प्रथम उपन्यास है ।[75] हरिजनों के होरहे अपमान , उन पर होते अत्याचार तथा उनकी विपन्न अवस्था इन तीनों की संतापत्रयी है धरती धन न अपना" ।[76]

उपन्यास के केन्द्र में है पंजाब के जिला होशियारपुर का एक गांव -- घोड़ेवाहा । घोड़ेवाहा गांव , उसकी चमादड़ी और उसमें रहने वाले ढेरों लोग -- काली, चाची प्रतापी , ताई निहाली , निक्कू , जितू, नंदसिंह , संतासिंह , बाबा फत्तू , बन्तो , ज्ञानो , मंगु आदि चमार तथा गांव के हरनामचौधरी , धड़म चौधरी , मुंशी चौधरी , छज्जू शाह , डा० बिशनदास , टहलसिंह , लालू पहलवान जैसे लोग इसके कथ्य के तानों-बानों को बुनते हैं । लेखक को गांव का और गांव के इन चमारों का प्रत्यक्षदर्शी अनुभव है , अतः उसके लेखन में एक ताव है । लेखक ने अपने संस्मरण में लिखा है -- " मेरा बचपन और लड़कपन रलहन में गुजरा । प्रारंभिक शिक्षा वहीं पाई और हाईस्कूल भी वहीं रहकर दसूहा से पास किया । गर्मियों और सर्दियों की छुट्टियों में मैं घोड़ेवाहा चला जाता था । इस तरह इन दोनों गांवों के जन-जीवन को देखने और समझने के मुझे अवसर मिले । " [77]

उपन्यास का प्रारंभ काली के पुनरागमन से होता है । काली बहुत पहले शहर भाग गया था और अब वहां से कुछ पढ़-लिखकर , नयी चेतना के साथ तथा कुछ अच्छी-खांसी रकम कमाकर लाया है । काली की आर्थिक स्थिति दूसरे चमारों से अपेक्षाकृत अच्छी है , अतः चमादड़ी के सब लोग उसे इज्जत की नज़रों से देखते हैं । जितू आदि तो उसे "बाबू काली" कहते हैं । छज्जू शाह भी उसे "बाबू कालिदास" कहता है तथा हरनामसिंह

चौधरी भी उसका प्रत्यक्षतः अपमान करने का साहस नहीं कर सकता । शिक्षा, चेतना तथा आर्थिक संपन्नता से क्या हो सकता है ; उसका संकेत हमें काली के चरित्र से मिलता है । भारतीय गांवों में इन हरिजन-चमार-मेहतरों की जो दयनीय पशुवत अवस्था है , उसके मूल में हजारों वर्षों की उनकी अशिक्षा, उन पर स्थापित अनेक निर्योग्यताएं §डिसएबिलिटिज़§ तथा उससे निष्पन्न चैतन्यहीनता और विपन्नता है । हमारे स्मृतिकारों तथा शास्त्रकारों ने हजारों वर्ष पूर्व लिख दिया था कि शूद्रवर्ण के लोग धन-संग्रह नहीं कर सकते, क्योंकि उनके धन-संग्रह से उन पर आपत्ति आ सकती है । " शूद्र को सलाह दी गई है कि वह समर्थ हो तो भी उसे धनसंचय न करना चाहिए क्योंकि धन प्राप्त करके वह ब्राह्मणों को ही पीड़ित करता है । शूद्रोहि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते । §10. 129§ — मनु -सहेंक्लि× स्मृति ।" [78] और प्रस्तुत उपन्यास में हम देखते हैं कि काली के थोड़े धन-संपन्न होने से क्या होता है । जब शहर से काली का मनीआर्डर आता है , तब डाकबाबू उसे अस्सी के स्थान पर बारह आने कम देता है । काली डाकबाबू से कहता है कि वैसे चाहें तो आप बारह आने रख लें , पर कायदा तो यही है कि पूरे पैसे दिए जाएं ।[79] बांध में जो शिगाफ़ पड़ जाता है , तब गांवभर के सभी चमारों को बेगार पर लगाया जता है । वे बेगार पर काम करने से इन्कार कर देते हैं और गांव के चौधरियों के खिलाफ़× खिलाफ़ सत्याग्रह करते हैं , यह हिम्मत और चेतना कहां से आयी ? यह और ऐसे अनेक नुकीले प्रश्नों को लेखक की यथार्थ-वादी दृष्टि ने उकेरे हैं ।

काली का गांव में आना , हरनामसिंह के द्वारा चमारों की पिटाई , मंमे×की×बेहयाई× मंगू की बेहयाई , काली की संपन्नता से छज्जू शाह का प्रभावित हाना , हरनामसिंह के नौकर मंमे× मंगू का काली से जलते रहना , काली के द्वारा पक्का मकान बनवाना , उसीमें चाची प्रतापी का दम तोड़ देना , काली के घर चोरी होना , उसमें रही-सही रकम का भी चोरी हो जाना , फलतः काली का पुनः कंगाल हो जाना , मुहल्ले में काली की इज्जत में ओट आना , नंदसिंह का पहले सिक्ख और बाद में ईसाई होना , गांव में बाढ़ के पानी का घुसना , बाबा फत्तू के मकान का गिरना , वृक्ष के गिर ने से पानी का बहाव चौधरियों के

मुहल्ले की तरफ होना , फलतः लालू पहलवान के प्रस्ताव पर बांध ? को तोड़ देना , गांव का बच जाना , पर बांध में शिगाफ का हो जाना , जिसे पूरने के लिए चमारों को काम पर लगाना , शुरू में मजदूरी की आशा से उनका खुश होना , पर बाद में दो-तीन दिन तक पैसों की सू-सां न होने पर उनमें चण-भण होना , आखिर काली-जिलू जैसे कुछ युवकों के कहने पर काम को रोक देना , चौधरियों तथा गांव के दूसरे लोगों द्वारा चमादड़ी का बहिष्कार , नाकाबन्दी , कुदरती-हाजत तक के लाले पड़ जाना, चौधरियों का भी नुकसान हो रहा था अतः दोनों तरफ के लोगों का थोड़ा झुकना, डा० बिशनदास और टहलसिंह ﴾दोनों कामरेड﴿ का पहले प्रसन्न और बाद में समझौता होने पर निराश होना , काली और ज्ञानो का प्रेम , काली से ज्ञानो को गर्भ रहना , पिछड़ी जातियों में भी संस्तरण की स्थिति के कारण दोनों के विवाह में उनके ही समाज का विरोध , ज्ञानो के नाबालिग होने के कारण उसका ईसाई होने में अवरोध , अंततः उसकी मां के द्वारा ज्ञानो को जहर दे देना , ज्ञानो की मृत्यु के बाद विक्षिप्त-सी अवस्था में काली का भाग खड़ा होना जैसी अनेकानेक घटनाओं के द्वारा लेखक ने हरिजनों की समस्याओं का यथार्थ निरूपण किया है ।

अपने सामन्ती अत्याचारों से इस वर्ग की चेतना को कुन्द कर दिया गया है । उन्हें मारना-पिटना , उनसे बेगार लेना , उनका आर्थिक शोषण करना यह बात उनके लिए सामान्य है । "घोड़ेवाहा" में किसी भी व्यक्ति की पिटाई होने पर उसके कारणों में उसका चमार होना एक पर्याप्त कारण समझा जाता है । किसी चौधरी की फसल कट जाय , उसके यहां कोई छोटी-मोटी चोरी हो जाय या कोई चमार चौधरी के काम पर न जाय तो उसकी पिटाई हो जाती है । स्वयं लेखक के शब्दों में " चमादड़ी में ऐसी घटना ﴾ किसी चमार की पिटाई ﴿ कोई नयी बात नहीं थी । ऐसा अक्सर होता रहता था । जब किसी चौधरी की फसल चोरी कट जाती या बरबाद हो जाती या चमार चौधरी के काम पर न जाता या फिर किसी चौधरी के अन्दर जमीन की मल्कियत का अहसास जोर पकड़ लेता तो वह अपनी साख बनाने और चौधर मनवाने के लिए इस मुहल्ले में चला जाता । "80

पिछड़ी जातियों की स्त्रियोंका नैतिक शोषण तो एक बात है । चौधरी हरनामसिंह का भतीजा हरदेव मंगू की सहायता से प्रीतो की जवान लड़की लच्छो की इज्जत दिन-दहाड़े लूटता है । लच्छो अविवाहित है, अतः बाद में उसका ब्याह जैसे-तैसे करवा दिया जायेगा , पर उसके योग्य लड़का तो नहीं ही मिलेगा । हरनामसिंह भी अपनी जवानी में प्रीतो से फंसा हुआ था । मंगू इतना बेगैरत हो गया है कि उसके सामने हरदेव उसकी बहन ज्ञानो की छातियों की तुलना कच्चे खरबूजे से करता है और इस अपमान को वह चुपचाप सुन लेता है ।[81]

बात-बेबात इनका अपमान किया जाता है ।"साला-कुत्ता-चमार" जैसे शब्द इनके लिए सामान्य हो गए हैं । मंगू हरनामसिंह का मुंहलगा नौकर है । एक बार हरनामसिंह और छज्जू शाह की बात में वह कुछ कहने जाता है । काली उस समय वहां खड़ा था , अतः मंगू को झिड़क दिया जाता है -- " कुत्ते की औलाद , चुप बैठ । कुत्ता चमार अपने आपको बड़ा सरपंच समझता है । "[82] वस्तुतः यह बात मंगू को नहीं , बल्कि काली को सुनाने के लिए कही जाती है । और स्थिति की विडंबना तो यह है कि उच्च-वर्ग द्वारा प्रताड़ित दूसरी पिछड़ी जातियां , जो पिछड़ी और शोषित तो हैं , पर द हरिजन-चमार से कुछ ऊंची समझी जाती हैं , उनके द्वारा भी इनका अपमान होता है । संतासिंह जो काली का मकान बनाने आया है , वह स्वयं पिछड़ा होते हुए कहता है -- " मुझे नंदसिंह ने बताया था कि काली और निक्कू में झगड़ा हो गया है । उस समय मुझे समझ में नहीं आया कि तेरा नाम ही काली है । सच्ची बात पूछो तो गांव में कुत्तों और चमारों की पहचान रखना मुश्किल है । आते-जाते रहते हैं ना । "[83] ऐसे तो अनेक प्रसंग उपन्यास में आये हैं ।

इनकी ऐसी अवस्था के पीछे सामाजिक-विषमता के साथ-साथ उनकी आर्थिक विपन्नता भी उतनी ही जिम्मेवार है । और इस आर्थिक विपन्नता के कारण सहस्त्राधिक वर्षों से उन पर थोपित विभिन्न निर्योग्यताएं हैं , जिसका संकेत ऊपर दिया गया है । काली की गांव में थोड़ी-बहुत भी इज्जत होती है , चौधरी लोग भी उसे प्रत्यक्षतः कुछ कहने में झिझकते हैं , उसके कारणों में उसकी आर्थिक सद्धरता है । उसकी जाति-बिरादरी वाले

भी उसकी बहुत इज्जत करते हैं क्योंकि वह शक्कर पीता है , सिगरेट पीता है और गेहूं की रोटी खाता है । काली जब शहर से आता है , तब जो रकम वह लाया है , उसमें से दस का एक नोट लेकर चाची प्रतापी छज्जू शाह के पास सौदा लेने जाती है , तब दस के उस नोट को छज्जू शाह विस्फारित नेत्रों से देखता है । {उपन्यास में निरूपित काल चालीस-पचास वर्ष पूर्व का है , तब इस वर्ग के पास दस का नोट होना भी आश्चर्यों में गिना जाता था} इसी नोट का ही प्रभाव है कि वह काली को "बाबू कालिदास" कहता है । वस्तुतः उनकी परवशता उनकी विपन्नता के कारण ही है । न उनके पास कोई ढंग का काम है , न जमीन , न जायदाद । चाय, दूध, छाछ जैसी चीजों के लिए ये लोग तरस जाते हैं । बात-बात में उनके मोहताज रहते हैं । फिर कैसे उनके सामने वे सिर उठा सकते हैं । काली जैसे कुछ लोग यदि कभी साहस करते भी हैं तो उनका बुरा हाल होता है ।

डा० कुसुम मेघवाल ने इस उपन्यास की आलोचना करते हुए काली के चरित्र की कमजोरी पर अपनी टिप्पणी दी है -- " लेखक ने काली को आरंभ में जिस रूप में प्रस्तुत किया वह रूप एक जाग्रत दलित का रूप था । शहर से वह समता और समृद्धि की जो दृष्टि लेकर आया था घोड़ेवाहा में उसकी उस दृष्टि का खो जाना आश्चर्य की बात लगती है -- असंभव सी । उसका घसियारा बनना और फिर लल्लू पहलवान की हलवाही करना , ज्ञानो को न अपना सकना । उपन्यास के पूर्वार्द्ध के काली और उत्तरार्द्ध के काली में चारित्रिक विरोधाभास की सृष्टि करता है जो सहज नहीं लगता । "[84]

इस सम्बन्ध में कुछ बातों पर विचार करना आवश्यक है । पहले तो उपन्यास का काल देखना होगा । उपन्यास में आयी चीज-वस्तुओं के दाम के अंतर्साक्ष्य के आधार पर वहचालीस-पचास वर्ष पूर्व का है । उस समय की दलित-चेतना में काली जितना भी साहस कर दिखाना बड़ी बात है । दूसरे लेखक ने पिछड़ी जातियों के ही अंतःसंघर्ष तथा उनमें निहित अर्थ-कुण्ठाओं को भी उठाया है । काली जैसे लोग जो अंततोगत्वा असफल रहते हैं , उसका उत्स उनकी इस "अर्थकx " अर्थ-कुण्ठा" में देखा जा सकता है । काली यदि उच्च-वर्ग का होता तो शहर से आयातित अपनी समृद्धि से वह अपनी समृद्धि

में और इजाफा करता , परन्तु निम्न-वर्गीय "अर्थ-कुण्ठा" तथा "जाति-कुण्ठा" के कारण वह अपने गांव के चौधरियों को दिखा देना चाहता है और इस "दिखा देने के वृत्ति" के कारण ही वह ईंटों का पक्का मकान बनवाता है, जिसमें उसकी जमा-पूंजी का एक अच्छा-खासा हिस्सा चला जाता है । शेष रकम चोरी हो जाती है । उसमें भी गांव वालों की तथा उसकी ही जाति के उससे जलते ऐसे कुछ लोगों की साजिश थी । अतः काली की परिणति असहज नहीं कही जा सकती । दूसरे पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के काली में विरोधाभास कहां है ? विरोधाभास होता तो काली भी दूसरों जैसा हो जाता । परन्तु उपन्यास के अन्त में काली के विक्षिप्त हो जाने या आत्महत्या कर लेने के जो संकेत मिलते हैं ,उनसे यही सिद्ध होता है कि काली की अंतर-चेतना मरी नहीं है । देशकाल के विपरीत जाकर काली को सफल दिखाना तो अयथार्थ ही होता । समय आयेगा जग बलचनमा, बिरू (महाभोज) तथा काली जैसे लोग अपने मिशन में कामयाब भी रहेंगे और तब उपन्यास में उन्हें सफल बताया भी जायेगा ।

डा० कुंवरपालसिंह इस उपन्यास की समीक्षा करते हुए लिखते हैं — " चमादड़ी के चमारों की पूरी मानसिकता उपन्यास के माध्यम से हमारे सामने आती है । चौधरी हरनामसिंह जितू को सबके सामने जूते मारता है तो अनायास काली के मन में यह प्रश्न उठता है कि लोग क्यों चुपचाप खड़े हैं ? इस प्रश्न का ~~उत्तर~~ उत्तर भी उसे जल्दी मिल जाता है । जब उसके पास धन समाप्त हो जाता है और वह चौधरी की मजदूरी करने पर विवश हो जाता है । उसका यह विचार सही है कि जहां वे लोग रहते हैं वह जमीन चौधरी की है , जिन खेतों में वे काम करते हैं वह जमीन चौधरी की है और जिन रास्तों पर वे आते-जाते हैं , वह भी चौधरी की जमीन है । गांव की सारी सम्पत्ति के मालिक चौधरी हैं । "[85] तभी तो उपन्यास का शीर्षक है — " धरती धन न अपना " ।

अंत में डा० पारूकांत के शब्दों में कह सकते हैं — " कृति अपनी समस्त संश्लिष्टता एवं समग्रता लिए हुए यथार्थ अपरागत जीवनानुभवों की यात्रा व यंत्रणा से गुजरती हुई रचनाधर्मिता का निर्वाह पूरी ईमानदारी से करती है । अतः प्रथम कृति होते हुए भी इसे हिन्दी के सफल व सार्थक

उपन्यासों में परिगणित किया जा सकता है । एक साहित्यिक के अन्तस् की पीड़ा यहाँ प्रेरणा बनकर यथार्थवादी कला के मूल्यों को उकेरती हुई दिखाई पड़ती है । " 86

कभी न छोड़ें खेत :

" कभी न छोड़ें खेत " जगदीशचन्द्र का दूसरा उपन्यास है जो ग्रामीण-परिवेश को लेकर आता है । यहाँ पर वे ग्रामीण-परिवेश के मध्यवर्गीय किसान की झूठी मान-मर्यादा-पोषित मनोवृत्ति तथा उसके परिणामस्वरूप चलने वाली पुश्तैनी दुश्मनियों और फौजदारियों को उद्घाटित किया है । केवल व्यवस्था और परिवेशगत दबाव के कारण नहीं , अपितु स्वयं किसान की मध्यवर्गीय रूढ़िवादी-चेतना और संस्कार भी उसकी तबाही लाने में कारणभूत होते हैं । फसल अच्छी होते ही उसके भीतर का झूठा अभिमान फुंफकारने लगता है । प्रस्तुत उपन्यास में भी हम देखते हैं कि नम्बरदारों और नीलेवालियों में पुश्तैनी दुश्मनावट चल रही है , और उसके कारण ही दो-चार उपलों के बिगड़ जाने मात्र पर करतारा की हत्या कर दी जाती है और फिर शुरू हो जाता है पुलिस , फौजदारी, कोर्ट, कचहरी, वकील, न्यायाधीश और डाक्टर आदि के चक्कर , जिनमें पैसे पानी की तरह बहाने पड़ते हैं और परिणामस्वरूप किसान की हालत वही ढाक के तीन पात । उपन्यास का फेरूमल वंचितसिंह से कहता है — " पांच सौ कल रात लिए थे । बारह सौ थैली में है । पहली छमाही का सूद तीन सौ रुपये काट लिया है । " 87 एक अन्य स्थान पर बिल्कुल सही कहा गया है — " अगर जाट को अपनी कमाई संभालनी आ जाय तो सारी खुदाई समेट कर घर में डाल दे ले । " 88 और " जाट की कोठड़ी में चोखे दाने हों , फसल अच्छी नजर आये , तो लड़ाई का बहाना तलाश करने में क्या देर लग सकती है ? " 89

लेखक ने इसमें हमारे पुलिस विभाग की अमानवीयता, उद्दंडता, रिश्वतखोरी, अन्याय, शोषण आदि को भी चित्रित किया है । पैसे लेकर पुलिस झूठी रिपोर्ट तैयार करती है । इसे नागार्जुन कृत "उग्रतारा" उपन्यास में भी लक्षित किया गया है कि पुलिस हमेशा गलत लोगों का साथ देती

है , क्योंकि रिश्वत उसे वहां से ही मिल सकती है । उपन्यास का हवालदार अपनी रिश्वतखोरी को न्यायिक रूप देते हुए कहता है — " और तो सब ठीक है , लेकिन मेरे लिए दो सौ रूपये कम है । दो सौ रूपये तो हौलदारी के हो गये । दो सौ रूपया कलम-घिसाई का भी होना चाहिए । सारी रिपोर्ट तो मैं ही लिखूंगा । थानेदार तो सिर्फ उस पर दस्तखत करेगा । "[90] और स्थिति की विडम्बना है यह है कि पुलिस की यह छवि ही लोगों को भी भाती है । आजकल ग्रामीण-परिवेश में बड़े गौरव के साथ ऐसे पुलिस अधिकारियों की चर्चा होती है , जो कम समय में उनकी शब्दावली का प्रयोग किया जाय तो "हजारों रूपये उतार " लेते हैं । तभी तो लेखक कहता है — " पुलिस में जमातोंकी नहीं जूतों की ज्यादा जरूरत है । "[91] निरपराधियों की धरपकड़ , हवालातियोंकी निर्मम पिटाई , तथा शंकर जैसे लोगों को मार-पीटकर सरकारी गवाह बनने पर मजबूर करना जैसी घटनाओं के चित्रण से लेखक ने यह सिद्ध किया है कि आजादी के उपरान्त भी हमारी पुलिस के रवैये में कोई खास बदलाव नहीं आया है ।

न्यायालय भी अन्याय और अत्याचार के अड्डे बने हुए हैं । गवाह खरीदे जाते हैं । वकील खरीदे जाते हैं । कई बार वे दोनों पक्षों से पैसा बटोरता है । अदालती मुकदमों से सम्बन्धित डाक्टरोंको दोनों बातों के लिए रिश्वत दी जाती है — झूठी रिपोर्ट देने के लिए और न देने के लिए । जज को बड़ी तगड़ी रकम खिलाकर फैसला अपने पक्ष में करवा लिया जाता है । इन तमाम पहलुओं पर लेखक हमारा ध्यान आकृष्ट करता है ।

हमारे धार्मिक मठ , आश्रम , पीठ इत्यादि अनैतिकता के डेरे बने हुए हैं । प्रस्तुत उपन्यास में भी ऐसे ही एक डेरे को बताया गया है । डेरे का महन्त शामसिंह गांव की सबसे ज्यादा जमीन पर कब्जा करके बैठ गया है । धार्मिक मठ महाजनी भी करने लगे हैं । लोगों को पैसे सूद पर दिए जाते हैं और वसूल न होने पर उनकी जमीन-जायदाद पर कब्जा कर लिया जाता है । ऐसे महन्तों और स्वामियों का बड़ा प्रभाव होता है । राजनीतिक लोगों से भी उनकी सांठ-गांठ होती है और वे लोग कई बार डा० वार्ड ﴾प्रसिद्ध क्रिस्टाइन कीलर का जगप्रसिद्ध पात्र﴿ की भूमिका से ऐसे लोगों को कैसे उंगली पर नचाया जा सकता है , इस कला में बड़े माहिर

होते हैं । नागार्जुन कृत " इमरतिया" उपन्यास में इसे पूर्ववर्ती पृष्ठों में लक्षित किया जा चुका है कि किस प्रकार गौरी जैसी सेक्सी और [illegible] रूपसी मधुआइनों के द्वारा पुलिस अधिकारी तथा बड़े-बड़े राजनीतिक नेताओं को गाँठा जाता है । प्रस्तुत उपन्यास में शामसिंह का जो डेरा है ,वह धार्मिक व्यभिचार का भी केन्द्र है । महन्त मक्खन में बादाम और शहद मिलाकर चाटता है । एक स्त्री उसके सिर पर बादाम रोगन से मालिश करती है और अन्य दो स्त्रियाँ उसकी पिंडलियाँ दबाती हैं ।[92] इस प्रकार धार्मिक पाखण्ड तथा आतंक फैलाकर ये मठाधीश बेचारे गरीब किसानों, मजदूरों तथा अन्य कमजोर वर्गों का शोषण करते हैं ; तो दूसरी तरफ अपने वाग्जाल में वे उच्च-वर्ग की स्त्रियों को भी फंसाने में कामयाब रहते हैं ।

हमारे सरकारी अस्पतालों में एक आम आदमी के साथ कैसा व्यवहार किया जाता है , उसका चित्र भी उपन्यास में मिलता है । डाक्टर डिप्टी कमिश्नर के बेटे की खाँसी-जुकाम का उपचार करने उनके बंगले पहुँचा है और दूसरी तरफ इमरजन्सी वोर्ड में पड़ा हुआ करतारसिंह ऐसे ही बिना उपचार के दम तोड़ देता है ।

तात्पर्य यह कि ग्रामीण-जीवन से जुड़ी हुई एक-एक बात की लेखक तफ्तीश करता है , अपने अनुभव को खराद पर चढ़ाते हुए अनेक स्थानों पर दर्द-निगलित व्यंग्य की सृष्टि करता है ।

राग दरबारी :

सातवें दशक के उपन्यासों में "राग दरबारी" का स्थान अप्रतिम है । चूंकि उपन्यास की गणना "लिटरेचर आफ डिस्कार्ड " के अंतर्गत होती है , उपन्यास के प्रारंभ से ही हमें उसमें व्यंग्यात्मकता की प्रवृत्ति विशेषतया मिलती है । बालकृष्ण भट्ट , मेहता लज्जाराम शर्मा , मन्नन द्विवेदी, प्रेमचन्द , उग्र, निराला , अश्क , नागार्जुन , रेणु आदि अनेक उपन्यास-लेखकों में हम इस प्रवृत्ति की प्रधानता को लक्षित कर सकते हैं । परन्तु "राग दरबारी" की विशेषता इस बात में है कि यह समूचा उपन्यास, और 424 पृष्ठों का बृहद्काय उपन्यास है , आद्यन्त व्यंग्य-शैली से सराबोर

है और पाठक है कि कहीं ऊबता नहीं , कहीं रुकता नहीं । व्यंग्य और केवल व्यंग्य के उपन्यासों का सूत्रपात "राग दरबारी" से मान सकते हैं । उपन्यास की बहुचर्चितता का यही प्रमाण है कि हिन्दी उपन्यास के आधुनिक आलोचकों में शायद ही कोई ऐसा होगा जिसने "राग दरबारी " के सम्बन्ध में लिखा न होगा ।

अपने व्यंग्यात्मक शिल्प एवं कथ्य के कारण "राग दरबारी-" ने अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है । "स्वयं लेखक के शब्दों में "राग दरबारी" का सम्बन्ध एक बड़े नगर से कुछ दूर बसे हुए गांव की जिन्दगी से है जो पिछले बीस वर्षों की प्रगति (राग दरबारी" का प्रकाशन 1968 में हुआ था) और विकास के नारों के बावजूद निहित स्वार्थों और अनेक अवांछनीय तत्वों के आघातों के सामने घिसट रही है । यह उस जिन्दगी का दस्तावेज है । " 93

"राग दरबारी" के केन्द्र में है शिवपालगंज , वहां के लोग और उनका "गंजहापन" । ~~अप्रस्थस्लम~~ उपन्यास की कोई बन्धी हुई कथा नहीं है । कुछ पात्र हैं , उन पात्रों को लेकर कुछ प्रसंग आते हैं , और उन पात्रों के लिए कुछ प्रसंगों का निर्माण होता है । उपन्यास का प्रारंभ रंगनाथ के शिवपालगंज में आगमन के साथ होता है । उपन्यास में सर्वत्र यथार्थ नहीं , व्यंग्यार्थ है । रंगनाथ का आना , रास्ते में ट्रक के ड्राईवर से वार्तालाप ; शिवपालगंज का राफ्ता-राफ्ता परिचय ; वैद्यजी की बैठक ; उनके दरबार के नवरत्न - प्रिंसिपल महोदय , उनका मुंहलगा क्लर्क , बद्री पहलवान , छोटू पहलवान , सनीचर उर्फ मंगलसिंह , रूप्पन , गयादीन आदि लोग ; नशेबाज जोगनाथ और उसकी सर्फाली बोली ; विरोध पक्ष के रूप में रामाधीन भीखमखेड़वी ; रामाधीन के द्वारा ताश के नये-नये खेलों का प्रचार , जुआ और अफीम-चरस का व्यापार ; वै.द्यजी , उनका कोमल-मधुर पर शातिर व्यवहार ; शिवपालगंज के सभी प्रभु-सत्ता-स्थानों पर उनका प्रभुत्व ; छंगामल इण्टरमीजिएट कालेज तथा उसकी गतिविधियां ; कालेज की पोलिटिक्स ; गंजहे बच्चों का बदमाश और लबाड़पना ; छात्र-नेता रूप्पन की गतिविधियां तथा उनका स्थानिक राजनीति पर प्रभाव ;

शिक्षा-जगत की गतिविधियां; शिक्षा-अधिकारी का दौरा तथा उनका भाषण; कोपरेटिव यूनियन का गबन ; सरकार की विभिन्न कल्याण-योजनाएं तथा काशीप्रसाद ; राधेश्याम "काना" तथा उनकी नउखड़नेवाले गवाह के रूप में फैलती जाती ख्याति और प्रेक्टिश ; चुनाव के हथकण्डे , उसके विभिन्न रूप, जैसे महिपालपुर , रामनगर तथा नेवादा के अलग-अलग पेटेन्ट ; दूरबीनसिंह डकैत तथा उनके कारनामे और आखिरी हश्र ; कौडिल्ला न्याय वाली कहानी; मेले-ठेले तथा उनमें गंजहों का गंजहापन ; वैद्यजी के भांगवाले नुस्खे और उनका ब्रह्मचर्यवाद ; प्रिंसिपल की दास्तान तथा पिकासो ; बेला का प्रेमपत्र ; गयादीन का "गयादीनवाद " ; बद्री पहलवान की प्रेमलीलाएं ; छोटू-कुसहर प्रसंग ; रंगनाथ द्वारा कांस में गांठ लगाना ताकि बजरंगबली प्रसन्न हो जैसी अनेक घटनाओं तथा पात्रों द्वारा यहां लेखक ने हास्य, व्यंग्य, भदेस , फारस, विनोद , चुहल जैसे हास्य-व्यंग्य के अनेक रूप उभारे हैं । "राग दरबारी" सचमुच में व्यंग्य का "एपिक नोवेल" है । भाव, भाषा, शैली , प्रसंग, पात्र, शब्द आदि सभी से लेखक ने व्यंग्य को निष्पन्न किया है । सपाट बयानी के द्वारा भी अनेक स्थानों पर व्यंग्य की सृष्टि हुई है ।

"राग दरबारी" उपन्यास के प्रायः सभी पात्र प्रतीक या प्रतिनिधि-पात्र हैं । शिवपालगंज भारत का प्रतीक है । जो वहां हो रहा है , वह सर्वत्र हो रहा है । वैद्यजी शासक-वर्ग के प्रतीक हैं । रंगनाथ हमारे निष्क्रिय सुविधाभोगी स्वकेन्द्री और स्वार्थी बुद्धिजीवी वर्ग का प्रतिनिधि है । रूप्पन पथभ्रष्ट युवापीढ़ी तथा छात्रनेता का प्रतिनिधि है । बद्री, छोटू, जोगनाथ , राधेश्याम , काशीप्रसाद ये सब पात्र हमारे देश में फैल रहे गुण्डेपन तथा हरामीपन के प्रतीक-पात्र हैं । रामाधीन भीखमखेड़वी विरोध-पक्ष के प्रतीक रूप में आये हैं जो देश के नवयुवकों को सही राह पर लाने के बदले गुमराह कर रहे हैं । गयादीन राष्ट्रप्रमुख या गवर्नर के प्रतीक हैं , जिनका काम केवल कुर्सी की शोभा बढ़ाना मात्र है और जो शासक के हर-अच्छे बुरे काम में साथ रहते हैं । छंगामल इण्टरमीजिएट कालेज हमारे देश की चरमराती शिक्षा-पद्धति का प्रतीक है ।

प्रस्तुत उपन्यास में हमारे देशकी सामाजिक , राजनीतिक,

शैक्षिक , नैतिक , सांस्कृतिक इत्यादि नाना स्थितियों पर करारा व्यंग्य किया गया है । वस्तुतः व्यंग्य का जन्म ही विषमता, विरूपता और विद्रूपता से होता है । जब कथनी और करनी का अंतर बढ़ जाता है । जब सच्चे मानवीय मूल्यों के स्थान पर धार्मिक ढकोसले-ढोंग और पाखण्ड बढ़ने लगते हैं ; तब व्यंग्य का जन्म होता है । कबीर कदाचित हिन्दी साहित्य के प्रथम व्यंग्य-कवि हैं । स्वाधीनता के उपरान्त हमारे देश में भी जो स्थितियां पैदा हुई हैं वे विषमता, विरूपता और विद्रूपता को बढ़ाने वाली ही रही हैं । हमारे देश के नेताओं का चरित्र ही व्यंग्य का एक बहुत बड़ा आलंबन बन गया है । सारे देश में एक ही प्रकार का राग आलापा जा रहा है — राग दरबारी । बस जो कुर्सी पर आसीन है , उसके गीत गाये जाओ । उसके दरबार में हाजरी बजाए जाओ और फिर निश्चिंत हो जाओ अपने ~~कर्तव्यों×के×प्रति×~~ अपने न्यस्त हितों के प्रति । संस्था और देश जाए भाड़ में । " दुम हिली कुर्सी मिली , जीभ हिली कि जेल । " जब तक दुम हिलाओगे तुम्हारी कुर्सी सुरक्षित है , जिस दिन जीभ हिलाओगे निकाल बाहर किए जाओगे । प्रिंसिपल साहब दुम हिलाकर वैधजी के दरबार में ऐश कर रहे हैं ; खन्ना और मालवीय जीभ हिलाते हैं तो जोर-जबरदस्ती से उनसे त्यागपत्र लिखवा लिया जाता है । संक्षेप में यही है "राग दरबारी" का सार ।

पहले कहा जा चुका है कि उपन्यास में अनेकों पात्र और घटनाएं हैं जिनको ऐसे संजोया गया है कि पाठक कहीं ऊबता नहीं है । इस संदर्भ में डा० रामदरश मिश्र का यह अभिमत ध्यातव्य होगा : " इतनी सारी जानी-पहचानी गति-विधियां , प्रसंग , घटनाएं , रोजमर्रा की जिन्दगी के इतने व्यापार बिखरकर एक नीरसता , ऊब और वितृष्णा की ही सृष्टि करते । लेकिन ऐसा नहीं हुआ है । लेखक की कुशल कथा-विन्यास शक्ति ने सारी बातों को केन्द्रवर्ती स्थिति के चारों ओर इस तरह बुन दिया है कि मामूली लगने वाली बात भी उबाने की जगह रमाने लगती है । यह लेखक की बहुत बड़ी सफलता है कि उसने मामूलियत को , सपाटता को मामूली या सपाट-सी लगने वाली शैली में कहकर उसमें एक नया स्वर भर दिया है । लेखक चाहे मेले का चित्र खींच रहा हो , चाहे किसी यात्रा का, चाहे चुनाव का , चाहे प्रेम का , चाहे चौपाल का , चाहे लोगों के निबटने

का , बहुत ही यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाता है । " [94]

"राग दरबारी" उपन्यास की व्यंग्यात्मकता की भूरी-भूरी प्रशंसा करने वाले तथा उसे व्यंग्यात्मक उपन्यासों का प्रतिमान मानने वाले डा० पारूकांत ने जहां "राग दरबारी" के दीगर ~~पक्षों को लेकर~~ पक्षों को लेकर उसे जहां एक अप्रतिम उपन्यास कहा है ; वहां उसकी खंडित एवं एकपक्षीय दृष्टि को लेकर उसकी आलोचना भी की है । यथा -- " 'अलग अलग वैतरणी', 'जल टूटता हुआ' तथा 'नदी फिर बह चली' जैसे उपन्यासों में ग्रामीण-जीवन की विद्रूपताओं के साथ-साथ मास्टर शशिकान्त , जगनमिसिर, पटनहिया भाभी ; सतीश, अखिलेशजी, कुंकू, बदमी ; परबतिया, नन्हे, मंगललाल, जैसे आलोक-बिन्दु भी गहरी मानवीय संवेदना के साथ यत्र-तत्र बिखरे हुए मिलते हैं । जगदम्बाप्रसाद दीक्षित द्वारा लिखित 'मुरदाघर' में लेखक ने बम्बई की झोंपड़पट्टी के जघन्य व घृणित जीवन को लिया है , परन्तु वहां भी हमें मानवता की महक मिल जाती है । वस्तुतः 'राग दरबारी' में जीवन का एक ही पक्ष मिलता है , जो भोंडा और कुरूप है । उसके दूसरे पक्ष को नितान्त उपेक्षित रहने दिया गया है । यथार्थ समग्रता में होता है, खण्ड-दृष्टि में नहीं । अतः 'राग दरबारी' की गणना विशुद्ध यथार्थवादी उपन्यासों में नहीं की जा सकती । लंगड़ के पात्र में उच्च मानवता का कुछ अहसास होता है , परन्तु उसका भी उपयोग लेखक ने उपहासास्पद दृष्टिकोण से किया है । लेखक का व्यंग्य दर्द से निःसृत न होकर कई बार उपहासात्मक बन गया है , जो लेखक के विशेष प्रकार के दृष्टिक्षेप को प्रमाणित करता है और जो वहां के जीवन के साथ सहानुभूति का परिचायक नहीं प्रतीत होता । ...' राग दरबारी ' में चित्रित कटु सत्य का उन्हें एक अधिकारी होने के नाते यथार्थ अनुभव भी है , परंतु ग्राम्य-जीवन की इन विसंगतियों को देखने वाली उनकी दृष्टि एक अधिकारी की है , कलाकार की नहीं । " [95]

डा० रामदरश मिश्र ने भी "हिन्दीउपन्यास : एक अंतर्यात्रा" के द्वितीय संस्करण में "राग दरबारी" के सम्बन्ध में अपनी परिवर्तित दृष्टिक्षेप का परिचय दिया है । यथा - " कुछ लोगों ने कहा है कि

"राग दरबारी" की पोर-पोर में व्यंग्य रचा हुआ है । वास्तव में व्यंग्य की स्थिति दुहरी होती है । एक तो वह विसंगतमयी स्थिति से पैदा होती है, दूसरे उसमें वचन-वक्रता होती है । स्थिति की विसंगति के बिना वचन-वक्रता से भी व्यंग्य पैदा किया जा सकता है किन्तु ऐसा व्यंग्य हमें यथार्थ के निकट न ले जाकर अपनी वक्रता के सुख में उलझाता है जो बहुत हल्का होता है । रागदरबारी में व्यंग्य की दोनों स्थितियां हैं । लेखक ने आज के गांव की अनेकमुखी विसंगतियों को उद्घाटित किया है, उसकी व्यंग्यात्मक शैली विसंगतियों की तीव्रता का अहसास कराने में सहायक होती है किन्तु बहुत जगहों पर स्थितियों के अति सामान्य होने पर वचन-वक्रता स्वयं उपहासास्पद बन जाती है और लगता है जैसे लेखक ने कथ्य की मांग के वशीभूत होकर अनिवार्य भाव से व्यंग्य नहीं किया है बल्कि खामखाह के लिए उसे व्यंग्य करना था । जैसे देहात में कुछ चिबिल्ले-चिबिल्लेपन से बात करने की अपनी शैली विकसित कर लेते हैं उसी प्रकार लेखक को हर बात व्यंग्य में कहनी ही है । नहीं तो मैं नहीं समझता कि मरदों और औरतों (खास तौर पर औरतों) के पाखाना होने का इतना व्यंग्यात्मक चित्र क्यों प्रस्तुत किया जाता ? .... लेखक की यह शैली जहां उसके कथा-विन्यास और अभिप्रेत प्रभाव-रचना में अद्भुत योग देती है, वहीं कभी-कभी उसकी आरोपित व्यंग्यात्मक प्रवृत्ति के कारण हल्की और अनावश्यक प्रतीत होती है ।" [96]

लोकऋण :

डा० विवेकीराय कृत "लोकऋण" आंचलिक उपन्यासों की कड़ी में एक विशिष्ट उपन्यास है । इसमें समकालीन ग्रामीण-परिवेश के अनेक आयामों को उनके संश्लिष्ट एवं जटिल रूप में लेखक ने प्रस्तुत किए हैं । इस उपन्यास में अध्याय नहीं है । शायद लेखक ने गांव की विशृंखल स्थिति को उसके उसी रूप में रखने के उद्देश्य से ऐसा किया हो । विवेकीराय की मूल प्रवृत्ति रिपोर्ताज की है । यहां भी उनका रिपोर्ताज-लेखन उनके कथाकार को उंगली पकड़कर ले चलता है । "लोकऋण" की कथा त्रिभुवन और गिरीश जैसे दो सबल पात्रों के आसपास गुंथी गई है । त्रिभुवन गांव के सभापति हैं - "जल टूटता हुआ" के महीपसिंह, "अलग अलग वैतरणी" के जैपालसिंह और

"राग दरबारी" के वैद्यजी जैसे , आजादी के बाद हमारे यहां कांग्रेस-कल्चर ने जो नेतागिरी दी है उसके एक अदद नमूने । इसमें लेखक की एक मूल स्थापना यह है कि गांव के प्रति गांव के पढ़े-लिखे लोगों ने अपना दायित्व नहीं निभाया है । इस "लोकऋण" को चुकाने के लिए ही अवकाश-प्राप्त करने के उपरांत गिरीशजी गांव आने का निर्णय लेते हैं और सीधे सभापति बन जाते हैं । यह ध्यान रहे कि ये गिरीशजी त्रिभुवन के ही छोटे भाई हैं । हिन्दी विभागाध्यक्ष रह चुके हैं इलाहाबाद में , आदर्शवादी पर भिरू प्रकृति के हैं । गांवों में फैल रहा कांइयापन , हरामीपन, व्यावसायिकता की चपेट में निरंतर निःशेष होते जाते जीवन-मूल्य , शिक्षा की अवनति, उस क्षेत्र में चलने वाली अनेक अनीतियां , पुस्तकालय के पुस्तकों की चोरी, चकबन्दी, चुनाव, थाना-पुलिस-कचहरी आदि अनेक बातें जो सीधे ग्रामीण-जीवन से जुड़ी हुई है वे इन दो पात्रों के आसपास बुन ली गई है ।

नदी फिर बह चली :

हिमांशु श्रीवास्तव प्रेमचन्द की परम्परा को विकसित करने वाले कथाकार हैं । "लोहे के पंख" (1958) के बाद इस द्वितीय कृति में उनका प्रगतिवादी दृष्टिकोण साफ निखरकर आया है । "लोहे के पंख" में जहां मंगरूआ चमार की कथा-व्यथा को लिया है , वहां "नदी फिर बह चली" कहार जाति की एक स्वाभिमानी सत्त्वशील और जूझारू स्त्री--परबतिया की कहानी है । वस्तुतः यह नायिका-प्रधान उपन्यास है । जीवन के संघर्ष को परबतिया झेलती ही नहीं जीती भी है । शैशव उसका बीता था सौतेली मां के ताने-तिसने और धौल-झापड़ खाते-खाते । जगलाल से शादी हुई जो पटना में ड्राईवर था । थोड़े दिन सुख से बीते-न-बीते जगलाल अपनी बुरी संगत और आदतों के कारण एक खून के जुर्म में जेल चला गया । परबतिया पुनः गांव चली आती है पर किसी पर निर्भर न रहकर मेहनत-मजदूरी से अपने दो बच्चों को पालती है । चुरामनपुर जो उसके ससुराल का गांव है , वहां उसकी इज्जत है , क्योंकि वह एक चेतना-संपन्न नारी है । गांव के स्कूल के लिए वह अपने पति की जो थोड़ी-बहुत जमीन थी वह भी दे देती है । गांव के नवयुवक-दल को वह अपना मंगटीका भी यह कहते

हुए दे देती है कि " कलुआ के बापू के नाम पर मैं मन में सेनुर पहनती हूं, जेवर और मांग में नहीं । " 97

जगलाल के जेल चले जाने पर परबतिया पुरामननगर आ जाती है । " यहां से गांवों की दलगत-जातिगत राजनीति , जनार्दनराय जैसे स्वार्थपटु नेताओं की शोषण-लीला , नन्हे तथा मंगललाल जैसे नवयुवक समाजवादी नेताओं द्वारा सर्वहारा वर्ग को संगठित कर उसमें विद्रोह और क्रांति की चेतना जगाना , अकाल के कारण तगावी न चुका पाने वालों पर जनार्दनराय जैसे नेताओं की प्रेरणा से सरकार का अमानुषी व्यवहार , इसके विरोध में नवयुवक दल का पटना विधान सभा के सामने धरना तथा जुलूस का कार्यक्रम, पुलिस द्वारा अश्रुगैस व लाठी का प्रयोग , उसमें परबतिया के मस्तक का फूटना , जगलाल का परबतिया को खोजते हुए आना और अन्ततः परबतिया की इहलीला की समाप्ति जैसी घटनाओं का सिलसिला प्रारंभ होता है । " 98

एक टुकड़ा इतिहास :

दलितोद्धार और दलित-चेतना को केन्द्रस्थ रख लिखे गए उपन्यासों में गोपाल उपाध्याय का यह उपन्यास एक अप्रतिम स्थान रखता है । इस उपन्यास में लेखक ने अपने देश में व्याप्त " घृणित एवं अमानवीय जाति-व्यवस्था की दुरभिसंधियों और अन्ध परंपराओं के विरुद्ध संघर्ष का बिगुल बजाने में सफल हुआ है । चन्दीदेवी(चनुली) के दुखद अंत और रतन के संकल्प पर उपन्यास की समाप्ति करके लेखक ने उसकी मार्मिकता को स्थायित्व दिया है । उपन्यास में दलित वर्ग के प्रति रूढ़िवादी समाज की अमानवीयता और और दलित वर्ग का इसके प्रति विद्रोह और संघर्ष का जो अनवरत क्रम अंकित किया है , वह बहुआयामी है । सवर्ण युवक द्वारा दलित युवती को अपना लेने पर जिस सामाजिक बहिष्कार को झेलना पड़ता है उसका यथार्थ चित्र इस उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है । यथार्थ के धरातल पर चित्रण होने के कारण कान्तिमणि की टूटन स्वाभाविक ही है ।"99

लेखक ने इस उपन्यास में हरिजन-समस्या के अनेक आयामों को छुआ है । कुमाऊं प्रदेश की पिछड़ी जातियों पर शैलेश मटियानी के भी

कई उपन्यास है , विशेषतः "नागवल्लरी" के साथ इसकी तुलना की जा सकती है , परन्तु गोपाल उपाध्याय में जो एक विशेष दृष्टि है , वर्गीय-चेतना की समझ है , वह मटियानीजी में नहीं है । उपन्यास की नायिका चनुली (चन्दीदेवी) है । चनुली एक डूम (हरिजन) कन्या है , परन्तु उससे आकृष्ट हो कान्तमणि , जो कि एक ब्राह्मण युवक है , विवाह करता है । परन्तु सामाजिक विरोध के कारण चनुली की डोली कान्तमणि के घर नहीं जा सकती । कान्तमणि को भी चनुली के साथ डोमों के साथ रहना पड़ता है । समाज द्वारा अनेक प्रकार की प्रताडनाएं , अपमान, उनसे आरिज आकर कान्तमणि का घुटने टेक देना , चनुली और बेटे रतन को छोड़कर कान्तमणि का कुछेक हजार दण्ड देकर पुनः जाति-प्रवेश , चनुली का विद्रोह , उसे तथा रतन को मार-पीटकर रस्सों से बांधकर कहीं दूर फेंक आना , पत्थर से रस्सों को काटकर चनुली का मुक्त होना , रतन को लेकर दर-दर की ठोकरें खाते हुए अल्मोड़े के एक आश्रम में काम मिलना , हरिजनोद्धार का काम हाथ पर लेना , चनुली का चन्दीदेवी के रूप में प्रस्थापित होना , कांग्रेसी-उम्मीदवार के सामने एम.एल.ए. का चुनाव लड़ना पर कुछ वोटों से हार जाना , अपनी दलितोद्धार की प्रवृत्तियों को चलाने के लिए "समता-आश्रम" की स्थापना , सवर्णों द्वारा उसका विरोध , आश्रम में आग लगाना, चन्दीदेवी का उनके सामने अदालत में जाना तथा अपराधियों को दण्डित कराना , पेड़ से गिरने के कारण कान्तमणि की कमर की हड्डी का टूट जाना, चनुली का उसके पास जाना तथा उसे बरेली अस्पताल में पहुंचाना, उसकी सुश्रूषा करना , कान्तमणि का पछतावा , पत्नी तथा बेटे रतन को पुनः अपनाते हुए अपनी जमीन-जायदाद उनके नाम कर देना , उस पर समाजवालों की गहरी प्रतिक्रिया , कान्तमणि के मरने पर उसके अंतिम संस्कार में किसी का न सम्मिलित होना , चन्दीदेवी के आश्रम के नाम में परिवर्तन- श्रीकान्त-समता-आश्रम " , अन्त में चन्दीदेवी की मृत्यु होने पर उसके पुत्र रतन के द्वारा अपनी माँ के कार्य को आगे बढ़ाने की उद्घोषणा जैसी अनेकानेक संघर्षपूर्ण घटनाएं उपन्यास के तेवर को स्पष्ट करती है । रतन के ये शब्द पाठक के मनोमस्तिष्क में घूमते रहेंगे -- " इजा ! डूम तो आज भी डूम ही रह गए हैं । आज भी वे अछूत हैं । फिर तूने खामख्वाह अपनी जान क्यों

दे दी । इजा तू नहीं बदल पाई इन लोगों को । मगर ये बदलेंगे इजा, समय इन्हें बदलने को ~~मजबे~~ मजबूर कर देगा । सिर्फ तू नहीं देख पाएगी इजा, तू ... " [100] इस बदली हुई, जगी हुई वर्ग-चेतना को स्थापित करने में इस उपन्यास की जो भूमिका है, वह श्लाघनीय व स्मरणीय रहेगी ।

नाच्यौ बहुत गोपाल :

अमृतलाल नागर द्वारा लिखित यह उपन्यास मेहतर (भंगी) जाति के जन-जीवन का एक साहित्यिक दस्तावेज है और इस कारण यह हिन्दी के उपन्यास साहित्य की एक विशिष्ट कृति समझी जाएगी । डा० विजेन्द्रनारायणसिंह के शब्दों में कहें तो " 'नाच्यौ बहुत गोपाल' का उद्देश्य है भारतीय समाज में सामन्ती दमन के निकृष्टतम रूपों से साक्षात्कार कराना और उनके प्रति हमारे मन में नफरत और विरोध का तीखा बोध पैदा करना । अपने इस संवेदनात्मक उद्देश्य की पूर्ति के लिए, उन्होंने पाखाना धोने वाले और टोकरी में मैला ढोने वाले भंगी समुदाय के जीवन यथार्थ का मार्मिक चित्रण किया है । " [101]

"एक टुकड़ा इतिहास" में जहां एक पर्वतीय हरिजन-कन्या चनुली की कथा को लिया गया है, वहां इस उपन्यास में निर्गुनिया नामक एक नारी के संघर्ष-पूर्ण जीवन को लिया गया है । चनुली एक ब्राह्मण-युवक कान्तमणि से विवाह करके चनुली से चन्दीदेवी बन जाती है, वहां प्रस्तुत उपन्यास की ब्राह्मण-कन्या निर्गुन एक मेहतर - मोहना — के साथ भागकर निर्गुन से "निर्गुनिया" मेहतरानी बन जाती है । निर्गुन कहने को तो ब्राह्मण-कन्या थी, पर उसकी मां का आचरण नीच से नीच औरतों से भी गया-बीता था । अतः कच्ची उम्र में ही वह निर्गुन को वासना की पंकिल भूमि में डाल देती है । निर्गुन के जीवन में तब कितने ही मर्द आते हैं । अंत में उसकी डायन मां पैसों की लालच में उसकी शादी अपनी जाति के एक नामर्द अधबूढ़े मसूरियादीन से कर देती है । निर्गुन दैहिक प्रेम के नाना ताप-मानों को देख-परख चुकी है । मसूरियादीन उसकी कामज्वाला को शांत करना तो दूर बल्कि और भड़का देता है, ऊपर से दिन भर कोठरी में बन्द कर ताला लगा देता है । मनुष्य के नाम पर दिन में एक बार वह

मैला साफ करने वाली मेहतरानी को ही देखती है । बीच में मेहतरानी के छुट्टी जाने पर थोड़े समय के लिए उसका बेटा आने लगा । निर्गुन ने इस छोकरे को पटाकर उसे लड़के से पुरुष बना दिया । निर्गुन के जीवन में पहले कई पुरुष आये थे , परन्तु सच्चे मन से तो उसने केवल इसे -- मोहना को -- ही चाहा था । एक स्थान पर निर्गुनिया से उसका पूर्व-प्रेमी थानेदार बसन्तीलाल यह ×××××× पूछता है कि उच्च-जाति की होते हुए भी उसने ऐसा क्यों किया ? तब निर्गुन कहती है कि " जब बारह बरस का अकाल पड़ा था तो भूखे विश्वामित्रजी ने सुपच के घर घुस कर कुत्ते ×× के मांस की चोरी की थी । मुझ अकाल की मारी ने भी अगर . . . " 102 यहां पर बसन्तीलाल जब यह कहता है कि -- " चुप करो , शर्म नहीं आती तुम्हें ? ब्राह्मण के घर जन्म पाकर .... " इस पर निर्गुनिया व्यंग्य से मुस्कुराते हुए कहती है -- " ब्राह्मण ? रायसाहब पंडित बटुक-प्रसाद ऊंचे कुल के ब्राह्मण होते हुए भी खुलेआम मुसलमान रण्डी रखते थे । बाद में मेम भी रखी । उनके ऊंचे कुल की ब्राह्मणी घरवाली ने अपने नौकर खड्ग बहादुर को और न जाने किन-किन नौकरों ××, मालियों, और नाते-रिश्तेदारों को अपना खसम बनाया था । आपको भी बनाया था । कौन-सी जात का आदमी छूटा उनसे । खुद मेरा बाप भी हर तरह की औरत से अपना मुंह काला करता रहा निगोड़ा । अरे दूर कहां जाए , खुद हमारे दारोगाजी साहब भी ऊंचे कुल के होकर इस ऊंचे कुल की औरत को नीचे गिराने में कुछ कम बहादुर साबित नहीं हुए । " 103

निर्गुन से "निर्गुनिया" होने की उसकी यात्रा संघर्षों की एक अनवरत यात्रा है । नागरजी की मंजी हुई कलम ने मेहतरों के परिवेश को यथार्थतः चित्रित किया है । निर्गुन का मोहना के साथ भाग जाना , मां के द्वारा दुत्कारे जाने पर मामी के यहां जाकर रहना , मोहना की मामी का घृणित व अपमानजनक व्यवहार , उसके द्वारा निर्गुन को मैला उठवाने पर मजबूर करना , मोहना का वहिदा डाकू के गिरोह में शामिल हो जाना और उसके बाद वहिदा के मारे जाने पर खुद सरदार हो जाना , डाकू होने के बावजूद मोहना का निर्गुनिया से मिलने के लिए आना , मोहना का ऊंची जाति की स्त्रियों के प्रति प्रतिक्रियावादी व्यवहार , मोहना

की माई के व्यवहार में भी अचेतन मन की इसी दबी वृत्ति का होना, निर्गुनिया के बेटे निर्गुनमोहन का बड़ा होना, आर्य-समाजी आश्रम की सहायता से निर्गुनिया का मेहतर समाज को ऊपर उठानेका प्रयत्न, निर्गुनमोहन की उच्चवर्गीय लोगों के प्रति घृणा व तिरस्कार की भावना, उसका बड़बोलापन जैसी अनेक बातों के साथ लेखक ने इनके {मेहतर जाति के} आर्थिक एवं दैहिक शोषण के कई कोण उभारे हैं ।

मकान दर मकान :

बाला दुबे कृत इस उपन्यास में सवर्ण-असवर्ण प्रश्न को अनेक यथार्थ घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित किया गया है । सवर्णों के छुआ-छूत सम्बन्धी ढोंग को भी उसके सही रूप में प्रस्तुत किया गया है । चोरी-चोरी जूठन खाने वाले गंगाप्रसाद मदारी भंगी के हाथ का प्रसाद खानेवालों से जाति से बहिष्कृत करने की बात करते हैं । इसमें लेखक ने एक और आयाम को भी लक्षित किया है कि जातिगत संस्तरण असवर्णों में भी पाया जाता है । "नाच्यौ बहुत गोपाल " में सत्यनारायण की कथा वाले प्रसंग में दूसरे अछूत ही मेहतरों का कथा-प्रवेश के लिए विरोध करते हैं । "धरती धन न अपना " में काली इसी कारण से ज्ञानो से विवाह नहीं कर सकता । प्रस्तुत उपन्यास में भी समेरा भंगी की लड़की किस्नो और ग्यासिया चमार के लड़के में प्रेम हो जाता है । वे दोनों विवाह करना चाहते हैं, परन्तु इस बात को लेकर दोनों पक्षों में लाठियां चल जाती हैं । अतः दोनों ईसाई बन जाते हैं । अब वे भंगी रहे न चमार । अस्पताल में उन्हें झाड़-पोंछ की नौकरी भी मिल जाती है । शहर में उनकी भी इज्जत होने लगती है । वे गिरजाघर जाते हैं और ईसामसीह के गीत गाते हैं । तथाकथित बड़े आदमी अपनी ऐयाशी के लिए निम्न जाति की स्त्रियों से रास रचाते हैं, और उनके द्वारा अधिकार की मांग करने पर उन्हें बेरहमी से रेत दिया जाता है । उसका भी एक उदाहरण मिलता है । "रतनगढ़ हाउस" के नाम से प्रसिद्ध भूतों वाले विशाल बंगले के राजा का प्रेम बिजना नामक डोमनी से हो जाता है । बिजना को राजा से गर्भ रहता है । जब वह उसकी कोख में पल रहे राजा के पुत्र के लिए कुछ अधिकार मांगती है, तब राजा उसे जल-विहार के बहाने पानी में डूबोकर मार डालते हैं--

" आखिर थी तो डोमनी । हरामजादी यह भी नहीं सोचती कि रानीसा के हक के लिए कितनी बड़ी बात कह दी । रानीसा हमारे खानदान की शोभा है । वह हमारी पगड़ी की कलगी है । " [104]

महाभोज :

" महाभोज" मन्नू भण्डारी का एक राजनीतिक चेतना से युक्त उपन्यास है । उसमें मन्नूजी कदाचित् प्रथम बार अपने निजी भावनात्मक वृत्तों को त्यागकर एक बृहत्तर वृत्त में आयी हैं । मन्नूजी के इस उपन्यास के मुखपृष्ठ पर जो चित्र अंकित है , उसे देखकर एक दोहा स्मृति में कौंध जाता है - " लड़ते लड़ते मर गया , सैंतालीस में देश । गिदड़ गीध चबा रहे , बदल कबिरा भेश ।। " [105] प्रस्तुत उपन्यास में "बीरू" मानो देश का प्रतीक है । उसकी हत्या हो जाती है । उसकी हत्या को राजनीतिक पार्टी के लोग , विपक्ष और शासक दोनों , अपने-अपने ढंग से भुनाने का प्रयत्न करते हैं । उपन्यास में जब घटनाओं के सारे जाले छंट जाते हैं , प्रदेश के मुख्यमंत्री उपचुनाव जीत जाते हैं , एक "महाभोज" आयोजित होता है और उसमें वे सब लोग सम्मिलित होते हैं जो किसी-न-किसी रूप में बीरू के केस से जुड़े हुए हैं , तब ऐसा प्रतीत होता है कि मानो ये सब गीध हैं और बीरू की लाश पर मिजबानी के लिए एकत्र हुए हैं ।

बीरू भी "धरती धन न अपना" के काली की भांति अपने जाति-बांधवों में चेतना जगाने का कार्य करता है । वह सच्चा है , निर्दोष है , निरीह है , निर्भीक है । पहले उसको नक्सलाइट कहकर जेल में ठूंस दिया जाता है । वहां उस पर तरह तरह के जुल्म होते हैं । हमारी जेलों में स्वर्ग भी होता है , नरक भी । स्वर्ग भ्रष्टाचारी नेता तथा तस्कराधिराजों के लिए होता है और नरक सीधे-सादे लोगों के लिए । तिहार-जेल का उदाहरण तो सबके सामने है , जिसमें न जाने कितने ही लोगों को अन्ध बना दिया गया था । बीरू जेल से आए बाद गुमशुम रहने लगा था, इतने से भी इन तत्वों को संतोष नहीं होता कि एक दिन उसकी हत्या करवा देते हैं । सरोहा गांव के सरपंच जोरावर का उसमें सीधे-सीधा हाथ था । बीरू तो मच्छर था । उसे मसल दिया गया । कितने ही बीरूओं को मसल दिया जाता है । सरोहा में इसे भी दूसरे ही दिन भुला दिया

जाता , पर वहां एक उपचुनाव होनेवाला है , जिसमें स्वयं मुख्यमंत्रीजी चुनाव लड़ रहे थे । अतः सरोहा की यह बैठक प्रतिष्ठा की बैठक है । बीरू दलित है , अतः उसकी हत्या की घटना को राजनीतिक रंग दिया जाता है और उसे एक असाधारण "पब्लिसिटी" मिलने लगती है । " सच पूछा जाय तो बड़ा न आदमी होता है न घटना । यह तो बस मौके-मौके की बात होती है । मौका ही ऐसा आ पड़ा है । इस समय तो सरोहा में एक पत्ते का हिलना भी अहमियत रखता है । डेढ़ महीने बाद ही तो चुनाव है ।"[106]

सभी जानते हैं कि हरिजन-टोला में आग जोरावरने ही लगवायी थी और बीरू (बिश्वेश्वर) की हत्या भी उसने ही करवायी थी, परन्तु जोरावर का आतंक इतना है कि कोई मुंह भी नहीं खोल सकता । बीरू का दोस्त बिन्दा सच ही कहता है कि लोगों की जमीन और गहने ही जोरावर के यहां रेहन नहीं है , उनकी जबानें भी उसके यहां रहन पड़ी है । बिन्दा बहुत बोलता है , अतः उसे ही बीरू की हत्या के जुर्म में गिरफ्तार किया जाता है । कर्तव्यनिष्ठ पुलिस अधिकारी सक्सेना जो बिन्दा को साथ देता है तथा जो बीरू से सम्बद्ध केस की सही दिशा में तफ्तीश करता है , उसे उसकी कर्तव्य-निष्ठा और सेवा की एवज में निलम्बित किया जाता है । अतः हम भी कह सकते हैं " ' महाभोज ' सामाजिक उत्पीड़न और उस पर टिकी हुई व्यवस्थापोषक राजनीति के विरूद्ध एक संवेदनशील रचनाकार की विनम्र किन्तु साहसपूर्ण प्रतिक्रिया है । "[107]

<u>शैलेश मटियानी के ग्रामभित्तीय उपन्यास</u> :

शैलेश मटियानी के उपन्यासों में हमें कुमाऊं प्रदेश की मिट्टी की महक मिलती है । जैसे नागार्जुन और रेणु हमें बिहार से परिचित कराते हैं , प्रेमचन्द उत्तर-प्रदेश के गांवों से , कृष्णा सोबती और जगदीशचन्द्र पंजाब की भिंगी धरती को लेकर आते हैं , उसी प्रकार शैलेश मटियानी के उपन्यासों में कुमाऊं के पर्वतीय अंचल हमें बोलते हुए से प्रतीत होते हैं । उनकी बोली-ठोली , हास-परिहास, विश्वास-अविश्वास , गीत , जोड़ , छंद , सब हमें मटियानीजी में मिल जाता है । कुमाऊं प्रदेश के ग्रामांचल को लेकर उनके प्रमुखतः चार उपन्यास मिलते हैं -- "हौलदार" , "एक मूठ सरसों",

"चौथी मुट्ठी" तथा ~~बक्म~~ " नागवल्लरी" ।

"हौलदार" उपन्यास में हौलदार "डूंगरसिंह" का चरित्र वर्णित है । यह लेखक का प्रथम उपन्यास है । इसकी विशेषता ~~श्रि~~ या विचित्रता यह है कि प्रथम उपन्यास होते हुए भी लेखक में लेखकीय निरपेक्षता तथा सजगता मिलती है । सामान्यतया यह देखा गया है कि अपने प्रथम उपन्यास में लेखक जो प्रमुख चरित्र सामने लाता है , उसके साथ उसकी सहज संवेदना जुड़ी हुई रहती है । परन्तु यहां उसके विपरीत हुआ है । उपन्यास का मुख्य पात्र डूंगरसिंह एक लुच्चा,लबाड़ ,झूठा , ढोंगी व्यक्ति है । उसके साथ जुड़ा "हौलदार" विशेषण भी झूठा है । वस्तुतः वह आर्मी को ज्वाइन तो करता है , परन्तु ट्रेनिंग पीरियड में ही अपनी गलती से गलत फायर करने से एक टांग गंवाकर आर्मी से डिसमिस होकर आ गया है । परन्तु फिर भी हमें उससे वितृष्णा नहीं होती । जिस थोकदार जमनसिंह के यहां वह रहता है , उसकी ही विधवा पुत्रवधू को उड़ाने के चक्कर में है । भाइयों और भाभियों का स्नेहपूर्ण व्यवहार होते हुए भी वह उनके बारे में गलत-सलत बातें थोकदार के कानों में डालता है , क्योंकि वह सोचता है कि भाइयों का परिवार बड़ा है , अतः यदि वह अलग हो जाता है तो फायदे में रहेगा । इस प्रकार पारिवारिक विघटन की प्रक्रिया को यहां लेखक ने रेखांकित किया है ।

"एक मूठ सरसों" तथा "चौथी मुट्ठी" दोनों उपन्यासों में कुमाऊं के ग्रामांचलों में नारी की जो दयनीय स्थिति है उसको लेखक ने चित्रित किया है । सरकारी कानून के रहते हुए भी वहां दो-तीन विवाह करना आम बात है । "एक मूठ सरसों" की देवकी और रेवती दोनों पुरुष-वासना की सतायी हुई नारियां हैं । "चौथी मुट्ठी" की कौशिला और मोतिमा मस्तानी भी इसी तरह सतायी हुई हैं । इन उपन्यासों में कुमाऊं अंचल में स्त्रियों का जो नैतिक एवं दैहिक शोषण होता है , उसे रेखांकित किया गया है ।

"नागवल्लरी" उपन्यास में कुमाऊं प्रदेश के भोगांव नामक गांव को लिया गया है । यहां लेखक की राजनीतिक चेतना के दर्शन होते हैं । वैसे इस संदर्भ में लेखक की महत्वपूर्ण कृति तो "आकाश कितना अनंत है " ही है , परन्तु ग्रामांचल के उपन्यासों में राजनीतिक चेतना केवल "नागवल्लरी" में मिलती है ।

"नागवल्लरी" के केन्द्र में है कृष्णा मास्टर जो डोम जाति के होते हुए भी संस्कृत के बड़े पंडित है । वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय के स्नातक हैं तथा भारतीय इतिहास और प्राचीन संस्कृति के प्रकांड पंडित है । उनकी इस विद्वता से आकृष्ट होकर ही गायत्री नामक एक विधवा ठकुराइन उनसे विवाह करती है । इस घटना से उस पूरे विस्तार में तहलका मच जाता है । गायत्रीदेवी कृष्णा मास्टर से विवाह तो कर लेती है परन्तु उनके डोम-समाज को वह पूर्णतया आत्मसात नहीं कर सकती । "नाच्यौ बहुत गोपाल" की निर्गुनिया की तरह वह भी उनसे घिनाती रहती है , जिसके कारण कुछ लोग उनकी आलोचना भी करते हैं । इस मुख्य कथा के साथ ठाकुर कल्याणसिंह, उसके राजनीतिक दावपेंच , दलित-चेतना , दलितों में आये कुछ परिवर्तन , मरे ढोर का मांस न खाने की शपथ तथा मरे हुए ढोर को खींचकर ले जाने के काम का बहिष्कार , कोई यदि चोरी-छिपे ऐसा करे तो उसको जाति-बाहर करना , छात्र-आंदोलन , पहाड़-बचाओ आंदोलन , चिपको आंदोलन, पिछड़ोंको लेकर सरकारी आरक्षण नीति तथा उसकी आलोचना जैसे अनेक सामाजिक-राजनीतिक पक्षों को लेखक ने लिया है । लेखक का "स्पोकमेन" कृष्णा मास्टर है । हर विषय पर उनके मौलिक विचार मिलते हैं । वस्तुतः ये विचार लेखक के ही हैं । मटियानीजी के समग्र साहित्य पर दृष्टि डाली जाय तो ज्ञात होगा कि उनके साहित्य में उन्होंने हमेशा गरीब, शोषित, पीड़ित का साथ दिया है तथा उनके दुःख-दर्दों को वाणी प्रदान की है । यहां भी कृष्णा मास्टर के चरित्र के द्वारा उन्होंने पिछड़ी जातियों के सम्मान और आत्म-गौरव को बढ़ाने का प्रयत्न किया है ; तथापि प्रगतिवादी द्रष्टि के अभाव में एक चूक वे कर जाते हैं । कृष्णा मास्टर न्याय, विवेक , मानवीय मूल्यों की बातें करते हैं ; पर क्या सामाजिक, आर्थिक , धार्मिक , राजनीतिक समानता के बिना यह सब संभव है ? कृष्णा मास्टर यह क्यों भूल जाते हैं कि आरक्षण की बात अयोग्य या कम योग्य को बढ़ावा देने के लिए नहीं , अपितु योग्य लोगों को उनके अधिकार दिलाने के लिए है । हमारे यहां अभी मानवीय विवेक और न्याय इतना नहीं विकसित हुआ है कि चयन-समिति के एक वर्ग के लोग केवल योग्यता के बल पर किसी दूसरे वर्ग के व्यक्ति का चयन करे ।

<u>अन्य उपन्यास</u> :

इस अध्याय में चर्चित एवं विश्लेषित उक्त उपन्यासों के अतिरिक्त निम्न लिखित कई ग्रामभित्तीय तथा मिश्रित परिवेश से संपृक्त उपन्यासों का विश्लेषण आवश्यकतानुसार किया है :- §1/§काला जल /शानी/ , §2§ सफेद मेमने ,/मणि मधुकर/ , §3§ कांचघर / रामकुमार भ्रमर/ , §4§ अं उभरते प्रश्न / अश्विनीकुमार/ , §5§ उल्का / वि.स. खांडेकर , §6§ अंधेरी गली का मकान / जानकीप्रसाद शर्मा / , §7§ नाक वाले / श्रीकांत मित्तल/, §8§ पारो / नागार्जुन / , §9§ बहती रहे नदियां / श्रीराम शर्मा/ , §10§ युग बदल गया /सोहनसिंह/ , §11§ रेतीला मोती /राजेन्द्र खन्ना/, §12§ प्रवंचना /बलदेवदत्त शर्मा/, §13§ सबहिं नचावत राम गोसाईं /भगवतीचरण वर्मा , §14§ यह पथ बंधु था /नरेश मेहता/ , §15§ अपने लोग /राम दरश मिश्र / , §16§ तमस /भीष्म साहनी/ , §17§ दिल एक सादा कागज / डा0 राही मासूम रजा/ आदि ।

==== XXXXX ======

:: संदर्भानुक्रम ::

§1§ "हिन्दी उपन्यास " : डा० सुषमा धवन : पृ. 302 ।

§2§ "हिन्दी उपन्यास:एक अंतर्यात्रा" : पृ. 231 ।

§3§ रतिनाथ की चाची : नागार्जुन : पृ. 172 । §4§ वही.पृ. 23 ।

§5§ हिन्दी उपन्यास:डा० सुषमा धवन :पृ. 303 ।

§6§ बलचनमा :नागार्जुन : पृ. 99 §7§ वही. पृ. 86 ।

§8§ "हिन्दी उपन्यास:सामाजिक चेतना" : डा. कुंवरपालसिंह: पृ.160-161 ।

§9§ आलोचना:जुलाई-सितम्बर:72 : पृ. 51 ।

§10§ उग्रतारा :नागार्जुन : पृ. 42 । §11§ वही. पृ. 37 ।

§12§ मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन:डा. शिवकुमार मिश्र : पृ. 434 ।

§13§ इमरतिया:नागार्जुन: पृ. 115 । §14§ वही. पृ. 22 ।

§15§ गंगामैया: भैरवप्रसाद गुप्त: पृ.32-33 । §16§ वही. पृ. 77 ।

§17§ "हिन्दी उपन्यास:एक अंतर्यात्रा" : पृ. 57 ।

§18§ सती मैया का चौरा : पृ. 634-635 । §19§ वही:पृ. 591-592 ।

§20§ डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : हिन्दी उपन्यास:सं. सुषमा प्रियदर्शिनी: पृ. 278 ।

§21§"हिन्दी उपन्यास:एक अंतर्यात्रा" : पृ. 233-234 ।

§22§ मैला आंचल : पृ. 101 ।

§23§ हिन्दी उपन्यास:सामाजिक चेतना " : पृ. 164 ।

§24§ "हिन्दी उपन्यास:एक अंतर्यात्रा" : पृ. 236 ।

§25§ "हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन" :डा. गणेशन:पृ. 346 ।

§26§ आलोचना: 6 : अप्रैल : 1987 : पृ. 190 ।

§27§ जुलूस : रेणु : पृ. 36 । §28§ वही : पृ. 38 ।

§29§ वरुण के बेटे : पृ. 34 । §30§ हिन्दी उपन्यास:सामाजिक चेतना : पृ. 167 ।

§31§ वरुण के बेटे : पृ. 42 । §32§ कब तक पुकारूं : पृ. 16 ।

§33§ वही:पृ. 47-48 । §34§ वही: पृ. 378 ।

§35§ "हिन्दी उपन्यासों में महाकाव्यात्मक चेतना" : डा. सुषमा गुप्ता: पृ. 320 ।

§36§ कब तक पुकारूं : पृ. 28 ।

§37§ आजकल : दिसम्बर : 79 : पृ. 35-36 ।

§38§ जिन्दगीनामा : पृ. 101 । §39§ वही: पृ. 263 ।

§40§ हिन्दी उपन्यासों में महाकाव्यात्मक चेतना : पृ. 236 ।

§41§ जिन्दगीनामा : पृ. 219-220 ।

§42§ समीक्षा: वर्ष-13 : अंक -4 : जनवरी-मार्च : 1980 : पृ. 21 ।

§43§ द संडे स्टान्डर्ड : मार्च-8 : 1981 : पृ. 8 ।

§44§ संदर्भ - 42 के अनुसार ।

§45§ हिन्दी उपन्यासों में महाकाव्यात्मक चेतना : पृ. 239 ।

§46§ आधा गांव : भूमिका से : पृ. 11 ।

§47§ हिन्दी उपन्यास:सामाजिक चेतना : पृ. 174-175 ।

§48§ "हिन्दी उपन्यास:एक अंतर्यात्रा : पृ. 243 ।

§49§ आधा गांव : पृ. 355 । §50§ वही : पृ. 355 ।

§51§ " साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास" : डा० पारूकांत देसाई : पृ. 89 ।

§52§ आधा गांव : पृ. 352 । §53§ वही : पृ. 352 ।

§54§ "हिन्दी उपन्यास:सामाजिक चेतना" : पृ. 176-177 ।

§55§ अलग अलग वैतरणी : तटवर्ती । §56§ वही : पृ. 88 ।

§57§ वही : पृ. 663-664 ।

§58§ "साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास" : पृ. 80 । §59§ वही:पृ.81 ।

§60§ डा. पारूकांत : एक व्यंग्य कविता की प्रारंभिक दो पंक्तियाँ ।

§61§ अलग अलग वैतरणी : पृ. 403 ।

§62§ उपन्यास का यथार्थ और रचनात्मक भाषा : पृ. 111 ।

§63§ तटस्थ : फरवरी: 1971 : पृ. 101 ।

§64§ डा. पारूकांत : "साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास" : पृ. 92 ।

§65§ जल टूटता हुआ : पृ. 43 । §66§ वही : पृ. 353-354 ।

§67§ वही:पृ. 389 ।

§68§ डा. पारूकांत : "साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास" : पृ. 94 ।

§69§ आधुनिक हिन्दी उपन्यास : सं. डा. नरेन्द्र मोहन : पृ. 253 ।

§70§ डा. पारूकांत : साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास : पृ. 95 ।

§71§ सूखता हुआ तालाब : पृ. 104 । §72§ वही : पृ. 99 ।

§73§ साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास : पृ. 97-97 ।

§74§ द्रष्टव्य : भूमिका: धरती धन न अपना ।

§75§ द्रष्टव्य : डा. पारूकांत : साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास : पृ. 97 ।

§76§ वही:पृ. 98 ।

§77§ आधुनिक हिन्दी उपन्यास : सं. भीष्मसाहनी, रामजी मिश्र, भगवती-
प्रसाद निदारिया ।

§78§ डा. रामविलास शर्मा : मार्क्स और पिछड़े हुए समाज :पृ. 235 ।

§79§ द्रष्टव्य : धरती धन न अपना : पृ. 167 । §80§ वही:पृ.27 ।

§81§ द्रष्टव्य : धरती धन न अपना : पृ. 157 । §82§ वही:पृ.57 ।

§83§ वही: पृ. 58 ।

§84§ हिन्दी उपन्यासों में दलित वर्ग : डा० कुसुम मेघवाल : पृ. 143 ।

§85§ हिन्दी उपन्यास : सामाजिक चेतना : पृ. 185 ।

§86§ साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास : पृ. 97 ।

§87§ कभी न छोड़ें खेत : पृ. 131 । §88§ वही: पृ. 25 ।

§89§ वही: पृ. 105 । §90§ वही : पृ. 49 । §91§ वही:पृ. 71 ।

§92§ द्रष्टव्य : वही: पृ. 131 ।

§93§ श्रीलाल शुक्ल : लेखकीय वक्तव्य : राग दरबारी ।

§94§ आज का हिन्दी साहित्य : संवेदना और दृष्टि : पृ. 127 ।

§95§ साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास : पृ. 86 ।

§96§ हिन्दी उपन्यास :एक अंतर्यात्रा : पृ. 244-245 ।

§97§ नदी फिर बह चली:पृ. 399 ।

§98§ डा. पारूकांत : साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास : पृ. 25 ।

§99§ हिन्दी उपन्यासों में दलित वर्ग : पृ. 164 ।

§100§ एक टुकड़ा इतिहास:पृ.278 ।

§101§ आलोचना:उपन्यास-अंक: जनवरी-जून : 83 : पृ. 32 ।

§102§ नाच्यौ बहुत गोपाल : पृ. 151 । §103§ वही:पृ.152 ।

§104§ मकान दर मकान : पृ. 110 । §105§ डा. पारूकांत :मानसमाला

§106§ महाभोज:पृ. 12

§107§ अजय तिवारी : आलोचना: उपन्यास अंक : जनवरी-जून : पृ. 69 ।

===== xxxxx ====